

## तृतीय अध्याय

आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में निहित सामाजिक जीवन

- i) सामाजिक अस्मिता
- ii) स्त्रियों की स्थिति
- iii) सामाजिक संक्रमण और प्रभाव
- iv) सामाजिक मूल्य

## i) सामाजिक अस्मिता

“सबसे पहले हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हम नीग्रो थे और हैं। हम आधे अमरीकी या आधे फ्रांसीसी नहीं हैं, बल्कि हम नीग्रो हैं और हम वैसे दीन-हीन नहीं हैं जैसा कि ये गोरे शासक वर्ग हमें बताते हैं, बल्कि हमारा एक उज्ज्वल और गौरवमय इतिहास रहा है, जिसमें इस संसार को देने के लिए बहुत-सी मूल्यवान धरोहर है। विश्व की सभ्यता और संस्कृति में हमारा भी योगदान है। हम संसार को तथा अपने इतिहास को फ्रांसीसी यूरोपीय दृष्टि से नहीं, नीग्रो दृष्टि से देखते हैं जो हमारी अपनी दृष्टि है।”<sup>1</sup>- प्रसिद्ध दक्षिण अमेरिकी कवि एमे सिजायर की यह उक्ति केवल नीग्रो समुदाय के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि समस्त आदिवासी समुदायों के संदर्भ में कही गई है। इस संसार में हर किसी की पहचान होती है। छोटे जीव से लेकर मनुष्य तक, सबका अस्तित्व इस पृथ्वी पर विद्यमान रहा है। इसीलिए प्रकृति ने सभी प्रकार के प्राणियों की रचना की। आदिवासी समुदाय के संदर्भ में देखें तो उनकी अपनी पहचान रही है, अन्य तबकों के समान उनकी भी अपनी व्यवस्थित सामाजिक संरचना रही है, किन्तु वैश्वीकरण ने उनकी अस्मिता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। यद्यपि देश के लगभग प्रत्येक क्षेत्रों में विभिन्न आदिवासी समुदाय निवास करती है जिनकी परंपरा एवं जीवन जीने के तौर-तरीकों में भिन्नता पाई जाती है, परंतु उनमें कुछ ऐसे कॉमन फैक्टर हैं जो उन्हें आदिवासी बनाता है। यही उनकी पहचान है जिसे आदिवासियत या आदिवासिडम (adivasidom) कहा जाता है। आदिवासी संस्कृति दुनिया की महानतम संस्कृतियों में से एक है जिसने संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अतः आदिवासियत पर गर्व का अनुभव करते हुए, आदिवासी दृष्टिकोण से विश्व को देखने एवं समझने का आग्रह मुख्य रूप से है जिससे आदिवासी अस्मिता का प्रश्न जुड़ा हुआ है।

आदिवासी समाज की पहचान भूमि से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है। आदिवासी समाज में भूमि का विशेष महत्व है। भूमि से उनकी अपनी संवेदनाएँ जुड़ी हुई हैं जिससे उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। भूमि पर किसी व्यक्ति का अधिकार न होकर पूरे समुदाय का

अधिकार होता था। इस प्रकार भूमि सामूहिकता का प्रतीक है। भूमि का महत्व इस रूप में भी है कि आदिवासी अपने पूर्वजों की अस्थियाँ जमीन में गाड़ते हैं और एक पत्थर उसके सिरहाने रख दिया जाता है। यह एक तरह से पुरखों की थाती के साथ-साथ उनकी जमीन का प्रमाण पत्र भी होता है। आदिवासी समाज की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उनकी जमीन पूर्वजों के स्मरण के रूप में रखी जाती है जिसका उपयोग वे लोग क्रय-विक्रय के लिए नहीं करते हैं। उनकी धारणा है कि पुरखे मृत होकर भी उनके साथ वैसे ही रहेंगे जैसे पहले रहा करते थे। लेकिन गैर आदिवासी समाज में भूमि को एकमात्र संपत्ति के रूप में देखा जाता है। इस संदर्भ में 'रेड जोन' उपन्यास का एक प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें कालीचरण कहता है - "हम आदिवासियों को अपने गाँव-घर से बहुत मोह होता है। गाँव हमारे पूर्वजों की थाती है जहाँ पूर्वजों के साथ हम जीते हैं। आप अपने मृत नाते-रिश्तेदारों का दाह संस्कार करने के बाद चिता की राख को नदियों में बहा देते हैं, लेकिन हम अपने मृत परिजनों की हड्डियाँ अपने घर के आँगन में गाड़ कर रखते हैं। वे मर कर भी हमारे साथ जीवित रहते हैं।"<sup>2</sup> इसी तरह भूमि के संदर्भ में हेरॉल्ड एस तोपनो का कथन द्रष्टव्य है - "भूमि का स्वामित्व सामूहिक होता है। किसी आदिवासी को यह अधिकार नहीं है कि जमीन को स्थायी रूप से समुदाय से अलग कर सके। आदिवासी ही जमीन के न्यासधारी होते हैं। इनमें जीवित आदिवासी ही नहीं होते बल्कि उनके पूर्वज और आने वाली पीढ़ियों का अधिकार होता है। इसी वजह से आदिवासियों की जमीन और खून सजातीय होता है। उनका समाज, संस्कृति, धर्म, पहचान यहाँ तक कि उनका अस्तित्व भी उसी जमीन से जुड़ा होता है, जिसके वे मालिक हैं। उन्हें उस जमीन से अलग करना ठीक उसी तरह चीर कर अलग करना होता है जो उनका जीवनदायक स्रोत है।"<sup>3</sup> जमीन में ही उनकी जड़ों को देखा जा सकता है। भारत में कई बार बाहर से समाज आए तो जो बड़ा परिवर्तन आदिवासी समाज में आया वह अंग्रेजों के आगमन के बाद परिलक्षित होता है। अंग्रेजों के आगमन के बाद सीधा प्रभाव इन पर पड़ने लगा क्योंकि अंग्रेजों ने सीधे-सीधे गाँव को प्रभावित किया था, गाँव की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया था। आर्थिक रूप से गाँव अपने आप में सम्पूर्ण

था। भले ही उसमें जातिभेद, ऊंच-नीच और न जाने कितने भेदभाव थे, इसके बावजूद गाँव अपने आप में पूर्ण था। उसे दूसरे गाँव पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। लेकिन अंग्रेजों ने व्यवस्था बदल दी जैसे अनाज की जगह पर कपास की खेती, नील की खेती करने के लिए बढ़ावा दिया गया जिससे खाद्यान्न में कमी होने लगी। भूमि की सुरक्षा के लिए एस.पी.टी. एक्ट और सी.एन.टी. एक्ट लागू किया गया था और आजादी के बाद भी संविधान में जमीन से संबंधित कानून का उल्लेख किया गया है। किन्तु विपुल मात्रा में जमीनों का अधिग्रहण आदिवासियों के लिए अपूर्ण्य क्षति थी। वे अपनी ही जमीन से उजड़कर अन्यत्र बसने के लिए बाध्य हुए। सबसे बड़ी बात है जमीन का व्यक्तिगत पट्टा देना जिसने उनकी सामूहिकता को नष्ट कर दिया और जमीन सामूहिक न होकर व्यक्तिगत संपत्ति में बदल दी गई। जमीन पर वर्चस्व स्थापित करने का हरसंभव प्रयास किया जाता है। रुपसपुर-चंदवा नरसंहार इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यह स्वतंत्र भारत में सामंती शोषण का एक नमूना पेश करता है। इस नरसंहार में 14 संथाल आदिवासी समुदाय के लोगों को जीवित जला दिया गया था तथा 36 लोग गंभीर रूप से घायल हुए थे। यद्यपि इस आंकड़े को सही नहीं बताया जा रहा है। यह घटना बिहार के पूर्णिया जिले के रुपसपुर-चंदवा गाँव में 22 नवंबर 1971 को घटित हुई थी। चंदवा के जमींदार के निर्देशानुसार रुपसपुर गाँव के संथाल क्षेत्र को घेरकर अचानक आक्रमण कर दिया। बेखबर आदिवासियों ने इस प्रकार आक्रमण की अपेक्षा नहीं की थी। आधुनिक हथियारों से लैस आक्रमणकारियों के सामने तीर, धनुष से मुकाबला करने वाले आदिवासी अधिक समय तक टिक नहीं पाये और उनके आक्रमण के शिकार हुए। मृत लोगों में बुजुर्ग व्यक्ति से लेकर बच्चे शामिल थे। यहाँ तक कि महिलाओं के साथ दुष्कर्म किया गया। जमींदार के कारिंदों ने संथालों को जीवित अग्नि में झोंक दिया। इस हत्याकांड के पीछे भूमि का सवाल मुख्य रूप से जुड़ा हुआ है। आदिवासी भूमि पर से अपने हक को छीनते हुए नहीं देख सकते हैं और अपना पुश्तैनी अधिकार किसी बाहरी व्यक्ति को देने के लिए राजी नहीं थे। जमींदार उस भूमि पर अपना अधिकार घोषित कर बर्बरता से प्राप्त करना चाहते थे जिसके फलस्वरूप इस नरसंहार को

अंजाम दिया। यह नरसंहार स्वतंत्र भारत का प्रथम और क्रूर नरसंहार माना जाता है। इस घटना को पचास साल हो गए हैं और भूमि को लेकर विवाद तब तक नहीं सुलझेगा जब तक भूमि अधिकार कानून को मजबूती से लागू न किया जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जमीन के लिए आदिवासी एक लंबे अरसे से लड़ते आ रहे हैं जिससे उनके पहचान का सवाल मुख्य रूप से जुड़ा हुआ है और इस पहचान के लिए उनका यह संघर्ष जारी है। वे अपनी जमीन से अनन्य प्रेम करते हैं और वे चाहते हैं कि उनके बाद उस जमीन का मालिक भी उसी प्रकार प्रेम करे जैसे वे करते आए हैं। रेड इंडियन आदिवासी समुदाय के सरदार चीफ सिएटिल ने अमरीकी राष्ट्रपति को पत्र लिखा जब अमरीकी सरकार आदिवासियों की जमीन जबरन हड़पना चाहती थी। उन्होंने लिखा है -

“इसलिए अगर हम तुम्हें जमीन बेचते हैं

तो उसे वैसे ही प्यार करना, जैसे हमने किया है।

हमने जैसी हालत में अपनी जमीन तुम्हें दी

उसकी याद को अपनी जहन में हमेशा ताजा रखना।

इस जमीं को, इस हवा को, इन नदियों को

संभाल कर रखना अपने बच्चों के बच्चों के लिए,

और इन्हें वही प्यार देना जो उन्हें हमने दिया है।”<sup>4</sup>

चीफ सिएटिल की पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण है कि जमीन आदिवासियों के लिए बहुत मायने रखती है वह चाहे भारत के आदिवासी हों या अन्य देश के आदिवासी। वे धरती को माता मानते हैं। इस तथ्य से वे भली-भांति परिचित हैं कि यदि धरती को किसी प्रकार का नुकसान पहुंचेगा तो उस पर रहने वाले प्राणी (जो उसके बच्चे के समान हैं) को भी नुकसान होगा।

इसलिए उन्होंने धरती को बचाने का प्रयास सदैव किया और उनका यह प्रयास अनवरत जारी है।

किसी भी समुदाय की अस्मिता उसकी भाषा एवं संस्कृति से गहरे रूप से जुड़ी होती है। भाषा और संस्कृति को बनने के लिए एक लंबी प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है तथा बाद में वह सामाजिक व्यवस्था का अंग बन जाता है। समयानुसार परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों में बदलाव आते हैं ताकि संस्कृति को संरक्षित किया जा सके। आदिवासी समाज एवं संस्कृति का निर्माण प्रकृति के संरक्षण में हुआ है। प्रकृति की जो सुंदर छटा आदिवासी सभ्यता में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आदिवासियों की अस्मिता प्रकृति से जुड़ी हुई है। “ताड़ के पत्ते पर रेशम के कीड़े नहीं पलते वहाँ कीड़ा मर जाता है।”<sup>5</sup> प्रकृति से अलग उनका अस्तित्व नहीं है। आदिवासी समाज की सुंदरता प्रकृति की ही देन है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति उनकी जीवनदायिनी स्रोत है। इस संदर्भ में हेरॉल्ड एस तोपनो का कथन द्रष्टव्य है - “आदिवासी जीवन की सुंदरता प्रकृति की गोद में फलती-फूलती है। इसीलिए जो मनोहारिणी छटा व अनुपम अलंकृति इस आदिवासी संस्कृति-सभ्यता में पोषित और परिष्कृत हो रही है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। प्राकृतिक सौंभ से सुशोभित आदिवासी सुषमा इतनी आकर्षक, उद्दीप्त और सशक्त है कि अनायास ही लोक की सत्य गरिमा इसकी ओर उन्मुख हो जाती है।”<sup>6</sup> आदिवासी समाज के निर्माण में प्रकृति का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। इसके पहले चर्चा की जा चुकी है कि आदिवासियों को पग-पग पर संघर्ष करना पड़ा है। जंगल में प्रवेश करने के पूर्व और पश्चात् भी आदिवासियों का संघर्ष जारी रहा। ऐसे में प्रकृति ने ही उन्हें संघर्ष करने की शक्ति प्रदान की है। इसलिए आदिवासी प्रकृति को शक्ति के रूप में देखता है जिसके प्रति वे अपूर्व श्रद्धा और आस्था रखते हैं। प्रकृति आदिवासियों की प्रेरणास्रोत एवं आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार प्रकृति के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है। वैश्वीकरण ने इन्हें प्रकृति से अलग कर दिया है और उनके अस्तित्व का संकट उभरकर सामने आया है जिसे बचाने की पैरवी आदिवासी समाज कर रहा है। जंगल

खनिज तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं का अतुलनीय भंडार रहा है। ऐसा नहीं है कि वे इन वस्तुओं के बारे में नहीं जानते थे। इन वस्तुओं से जितना वे परिचित हैं उतना अन्य कोई नहीं। वस्तुतः आदिवासियों ने इस पर कभी अपना अधिकार नहीं जमाया। निजीकरण का सिद्धान्त गैर आदिवासियों का रहा है जिसके परिणामस्वरूप आदिवासी प्रकृति से कटते चले गए। इसका एक स्पष्ट उदाहरण 'रेड जोन' उपन्यास में देखने को मिलता है - "वे प्रकृति के साथ ज्यादा रचे-बसे थे, जबकि यह गाँव लगभग तीन दिशाओं से आवासीय कॉलोनियों के बीच घिरकर शहर का हिस्सा बन गया था। इनकी जीवन शैली भी बदल गयी थी। गाँव में कुछ लोग कारखाना में काम करते थे और अधिकतर औरत-मर्द दिहाड़ी मजदूरी या कचरा चुनने का काम करते थे। भौतिक दृष्टि से वे शायद गाँवों में रहने वाले संचालों से बेहतर स्थिति में थे, लेकिन प्रकृति से उनका वह नाता नहीं रह गया था जो पहाड़ों-जंगलों में बसे आदिवासी गाँवों के लोगों का होता है। इसका असर उनकी जीवन शैली पर पड़ा था।"<sup>7</sup> स्वच्छता के प्रति उनकी जो दृष्टि थी, वास्तव में वह समाज के लिए सेहतमंद दृष्टि थी, लेकिन उस दृष्टि को इस तरह से मार पड़ रही है कि स्वच्छता को नजरंदाज किया जा रहा है और इसका स्थान भौतिक सुविधाओं ने ले लिया है। शहर का प्रभाव उनकी अस्मिता को नष्ट कर रहा है। जमीन अधिग्रहण के समय मुआवजे की जो थोड़ी रकम मिली, उससे आदिवासी टीवी और मोटरसाइकिल खरीद लेते हैं या फिर शराब में खत्म हो जाता है। कृषि व्यवस्था नष्ट हुई और इसका स्थान मजदूरी ने ले लिया। वस्तुतः इनकी पारंपरिक अर्थव्यवस्था का आधार खत्म हो गया। कुल मिलाकर उनकी अस्मिता का दोहन हुआ जिसके लिए संघर्ष सदियों से चला आ रहा है और आज भी जारी है।

आदिवासी समाज सहअस्तित्व में विश्वास रखता है। वह स्वीकार करता है कि मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी वर्ग, पेड़-पौधे, पहाड़, नदियाँ, झील, पर्वत आदि प्राकृतिक तत्वों का अस्तित्व है। आदिवासियों ने इन सबके साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए सहअस्तित्व की भावना को विकसित किया है। उन्होंने समूह में जीवन व्यतीत किया है और सामूहिकता उनकी

पहचान है। संसार के हर एक प्राणी, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, का अपना अस्तित्व होता है जिसे इच्छित जीवन जीने का पूर्ण अधिकार है। यह तभी संभव है जब सभी जीवित रहे। यही भावना वर्गभेद रहित समाज (आदिवासी समाज) का मुख्य आधार है। प्रकृति ने किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं किया, उसकी दृष्टि में सभी समान है। फलस्वरूप आदिवासी समाज में समानता का भाव विकसित हुआ। कोई छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, अमीर-गरीब नहीं है, बल्कि पूरा विश्व एक समुदाय है। परिस्थितियाँ अनुकूल हो या प्रतिकूल, वे सामूहिकता का परित्याग नहीं करते हैं। जैसे खेती कार्य को ले सकते हैं। कोई एक व्यक्ति अपने खेत नहीं जोतता है, बल्कि पूरा गाँव उस व्यक्ति की सहायता करता है। उसी प्रकार एक व्यक्ति के खेत की कटाई वह अकेला नहीं करता है, बल्कि पूरा गाँव मिलकर खेत की कटाई करता है। घर बनाने पर विचार करें तो कोई आदिवासी व्यक्तिगत रूप से घर निर्मित नहीं करता है। किसी का घर सम्पन्न रूप में है तो किसी का घर विपन्न रूप में है, ऐसी भिन्नता आदिवासी समाज में नहीं दिखती है। सभी के घर समान रूप से होते हैं और घर बनाने में लोग एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं। कोई व्यक्ति अकेले घर का निर्माण नहीं करता है और न ही वह अकेला अनुभव करता है। व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा के स्थान पर पूरे समुदाय को लेकर चलने की प्रवृत्ति आदिवासी समाज में विद्यमान रही है। आवश्यकतानुसार जंगलों से फल-फूल का उपयोग करते हैं ताकि “पक्षियों को भी अपने हिस्से का फल मिल सके, मधुमक्खियों को शहद जमा करने का अवसर मिल सके। गिलहरियों को गर्मी के आनेवाले मौसम के लिए बचाने का हक मिल सके।”<sup>8</sup> शेष हिस्सों पर वे अपना अधिकार समझकर ग्रहण करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण मानवता को दृढ़ और शक्तिशाली बनाता है। उन्होंने बाहरी दुनिया से भिन्न अपना एक संसार निर्मित किया है जहाँ सभी सामाजिक नियमों का पालन करते हुए सहअस्तित्व की भूमिका निभाते हैं। अस्मिता के रूप में सहअस्तित्व की महत्ता पर विचार करते हुए हरिराम मीणा ने कहा है - “आदिवासी समुदाय पृथ्वी के किसी भी अंचल में दिखाई देगा तो इसी सहअस्तित्व के सिद्धान्त के साथ जीता हुआ पाया जायेगा। सजीव-निर्जीव व समस्त सृष्टि का संरक्षण व विकास सहअस्तित्व



के सिद्धान्त पर ही निर्भर है। यह सहअस्तित्व जब किसी भी रूप में और किसी भी हद तक भंग होता है तो एक तरह से आदिवासी अस्मिता पर आघात होता है क्योंकि आदिवासी जीवन की कल्पना इस सहअस्तित्व के बिना नहीं की जा सकती है।<sup>9</sup> इसलिए उन्होंने जो संघर्ष किये हैं, वह केवल स्वयं के लिए नहीं, बल्कि समस्त मानव जगत, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, पर्वत-पहाड़, नदी-पत्थर, धरती-आकाश आदि प्राकृतिक अवयवों के अस्तित्व के लिए संघर्ष करता रहा है।

आदिवासी समाज की पहचान उनकी स्वायत्त जीवन प्रणाली से है। स्वायत्त जीवन प्रणाली किसी व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। सजीव-निर्जीव अवयव समाज के केंद्र में न होकर विकेंद्रित रूप में है। आदिवासी समाज किसी का शासन स्वीकार नहीं करता है क्योंकि शासन करने की प्रवृत्ति स्वस्थ समाज के लिए हानिकारक है। इनकी अपनी स्वशासन व्यवस्था रही है जो स्वायत्तता पर आधारित है। इनकी इस स्वायत्त व्यवस्था के बनने में कई वर्षों का समय लगा है। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी मसले का हल सर्वसम्मति से निकाला जाता है जिसमें सभी लोगों की सहमति महत्वपूर्ण मानी जाती है। यदि किसी मसले पर निर्णय लेने में अधिक समय लग रहा हो तो जल्दबाजी में निर्णय न लेते हुए धैर्यपूर्वक एवं सोच-समझकर समाधान की तह तक पहुँचा जाता है। दण्डस्वरूप मृत्युदंड का विधान आदिवासी स्वशासन व्यवस्था के अंतर्गत कभी नहीं रहा है। देश से निष्कासित करने को सबसे बड़ा दण्ड माना जाता है। बहुमत पर आधारित न्याय प्रणाली के बरक्स सर्वसम्मति पर आधारित स्वशासन व्यवस्था संसार में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है। आदिवासी समाज की पहचान उनकी स्वायत्त स्वशासन व्यवस्था से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आदिवासी समुदाय की पहचान उनकी सामाजिक विशिष्टता से होती है। इनसे विलग आदिवासी समुदाय को समझना कठिन है। आदिवासी समाज की अस्मिता समानता और सामूहिकता में निहित है। समाज में कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता है, सबका स्थान बराबर है क्योंकि आदिवासी मानता है कि समाज के निर्माण में

प्रत्येक प्राणी का बराबर सहयोग रहा है। उनका अनुभव संसार काफी विस्तृत है जिसे आपस में साझा करते हैं। एक-दूसरे पर नियंत्रण स्थापित करना, शासन करना आदिवासी समुदाय की प्रवृत्ति नहीं रही है। अन्य समाज की भांति इनकी अपनी सामाजिक संरचना है जिसमें सभी का मत महत्वपूर्ण होता है। प्रकृति वह प्रेरणाशक्ति है जिसके निर्देशन से उनके जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः आदिवासी समाज का जीवन दर्शन ही उनकी अस्मिता और उनकी पहचान है।

## ii) स्त्रियों की स्थिति

आदिवासी समाज में महिलाओं की स्थिति पर विचार करें तो हम पाते हैं कि आदिवासी महिलाएँ अपेक्षाकृत स्वतंत्र रही हैं। चूँकि यह समाज विभाजन रहित समाज रहा है, अतः यहाँ स्त्री-पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं रहा है। अर्थात् लिंग-भेद से दूर सिर्फ एक मानव के रूप में स्त्री की पहचान रही है। किसी प्रकार का बंधन नहीं था। यद्यपि सामाजिक नियम-कानून बने हुए थे, किन्तु उनकी स्वतन्त्रता, उनके अधिकारों को कभी क्षति नहीं पहुँची। आदिवासी समाज समतावादी समाज का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ सभी को समान रूप से देखा जाता था। स्त्रियों के साथ भिन्न व्यवहार नहीं किया जाता था। युवक-युवतियों को ऐसा वातावरण प्रदान किया जाता था जिसमें वे सहजता का अनुभव कर सकें। अर्थात् स्त्री-पुरुष के मध्य बड़ा सहज और सरल संबंध इस समाज में देखा जाता है।

आदिवासी समाज मातृसत्तात्मक समाज के स्थान पर पितृसत्तात्मक समाज रहा है जहाँ पुरुषों की सर्वोच्च भूमिका होती थी। गैर आदिवासी समाज के समान पुरुष सर्वेसर्वा नहीं होता था। स्त्रियाँ हमेशा से परिश्रमी रही हैं और उन्हें अपना जीवन साथी चुनने का पूर्ण अधिकार था। अर्थात् स्त्रियों को स्वयं निर्णय लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसके पीछे उनका संघर्ष भी है। इसका मुख्य कारण है कि श्रम का विभाजन इस समाज में नहीं है। वे घर में नहीं रहती हैं, वे बाहर निकलकर खेत-खलिहान, जंगल आदि का कार्य करती हैं। काम करने के कारण ही उन्हें वह समानाधिकार प्राप्त हैं। मुख्यधारा समाज की स्त्रियों की तरह केवल घर का काम संभालना उनके कार्य का हिस्सा नहीं रहा है। इस संदर्भ में लेखिका रमणिका गुप्ता का कथन द्रष्टव्य है - “पुरुष-प्रधान समाज तो पूरे का पूरा है ही, भले यहाँ औरतें ही अधिक खटती हैं मरदों से। यहाँ पर औरतों को भी काफी स्वच्छंदता हासिल है मर्द चुनने की, मर्द बदलने की। सती-सावित्री बनकर जीवनभर एक ही मर्द के साथ रोते-गाते, पिटते-पिटाते जुल्म सहकर, भूखे पेट रहकर जिंदगी काटने का मध्यवर्गीय शोषक गठबंधन फाँसी की तरह उनके गले में नहीं पड़ा रहता था। वह जब मन हो गाँठ खोलकर दूसरे से रिश्ता जोड़ सकती थीं और जोड़ती हैं,

भले इसके लिए कोई आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक दंड मिलता था उसे।”<sup>10</sup> इसी तरह एक और प्रसंग ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में द्रष्टव्य है जिसमें एक पात्र रामधनी आदिवासी स्त्रियों की विशेषता बताते हुए कहता है - “हमीं स्त्रियों को इस तरह बनाकर रखते हैं, जिसमें हर समय उन्हें पुरुष के सहारे की जरूरत हो। वरना इन आदिवासियों की स्त्रियों को देखो, किसी बात में पुरुष से कम हैं? अरे भाई, अकेले जंगल में शिकार पर निकल जाती हैं। घने वन के भीतर से खुद मोटी-मोटी लकड़ियाँ काटकर ले आती हैं फिर दूर-दराज उन्हें बेच भी आती हैं। आदिवासी हमारी तरह स्त्रियों को गुलाम बनाकर नहीं रखते।”<sup>11</sup> आदिवासी समाज में स्त्रियों की भागीदारी भी महत्वपूर्ण होती थी। अतः कह सकते हैं कि स्त्रियाँ उच्च स्थिति को प्राप्त थीं। जब भी कोई निर्णय लिया जाता था तो सब सामूहिक रूप से मिलकर निर्णय लेते थे। सभी का मत अत्यंत महत्वपूर्ण होता था। एकमत होने के पश्चात् ही निर्णय लिया जाता था। ‘रेड जोन’ उपन्यास में लेखक विनोद कुमार ने रावण नामक पात्र के माध्यम से आदिवासी समाज की इस विशेषता को उजागर किया है कि किसी भी मसले पर सबकी सहमति आवश्यक होती है। अखड़ा वह स्थल है जहाँ सभी बैठकर आपस में समस्या का निपटारा करते हैं। पुरखों के इस नियम को सभी मानते आये हैं और इसी न्याय व्यवस्था पर समाज टीका हुआ है। इसमें स्त्रियों को अपना मत देने का अधिकार प्राप्त था। किसी मामले को सुलझाने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती थी।

आदिवासी प्रकृति के सान्निध्य में रहे हैं, उनका जीवन प्राकृतिक संसाधनों पर ही निर्भर रहा है। प्रकृति ने उन्हें अमूल्य संसाधनों से परिपूरित किया है जिस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर सामूहिक अधिकार होता था। भूमि पर सामुदायिक अधिकार होने के कारण स्त्रियों को भी भूमि पर अधिकार प्राप्त थे। वे स्वतंत्र रूप से जंगलों में विचरण कर सकती थीं, दैनिक कार्य कर सकती थीं। परंतु अंग्रेजों द्वारा उपनिवेश स्थापित होने के पश्चात् जंगल को केवल सम्पदा के रूप में देखा गया। कई तरह के वन कानून लागू कर जंगलों से आदिवासियों के अधिकार छीन लिये गए। वाल्टर भेंगरा ‘तरुण’ ने अपने चर्चित उपन्यास ‘लौटते हुए’ में

लिखा है - “गाँव में चर्चा थी कि आस-पास के जंगलों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया है। अब पहले की तरह गाँव वाले अपनी मर्जी के जंगल से लकड़ी काटकर नहीं ले जा सकते थे। वैसे अभी भी गाँव वाले ग्राम पंचायत के सरपंच को कहकर जरूरत के समय विशेष कर शादी-विवाह के अवसर पर मंडवा गाड़ने और अन्य पर्व-त्योहारों के लिए जंगल से लकड़ी, सरई डालियाँ व पतियाँ आदि ले आते थे। सलोमी को यह बात बिलकुल अच्छी नहीं लगी थी जब उसने पहली बार यह सुनी। उसने तो बचपन से यही देखा, सुना और जाना था कि गाँव के आस-पास के जंगल गाँव वालों के ही हैं। उस पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं था लेकिन पूरे गाँव का अधिकार था।”<sup>12</sup> अंग्रेजों द्वारा एकल पट्टा दिये जाने के पश्चात् आदिवासियों का वनों पर सामूहिक अधिकार नष्ट हुआ और पहली बार भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की धारणा प्रचलित हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों के भूमि पर से समस्त अधिकार समाप्त कर दिये गए और पुरुष ही मूल रूप से भू-स्वामी माना जाने लगा। आदिवासी समाज में स्त्रियों को गौण श्रेणी में नहीं रखा जाता था, वे हमेशा से मुख्य स्तर पर रही हैं। किन्तु भूमि पर सामुदायिक अधिकार समाप्त हो जाने से स्त्रियाँ हाशिये पर चली गईं। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर श्रम करती थीं। परस्पर सहयोग की भावना को विकसित करते हुए जीविका चलाने की जिम्मेदारी एक-दूसरे पर होती थी। परिवार का भरण-पोषण दोनों मिलकर करते थे, परंतु वर्तमान संदर्भ में देखें तो स्त्रियों की भूमिका परिवर्तित हो गई है। परिवार के भरण-पोषण का दायित्व स्त्रियों पर मुख्य रूप से आ गया है। जीविका के लिये शहरों की ओर आदिवासी स्त्रियों का पलायन इसका परिणाम है क्योंकि अपने क्षेत्रों में काम नहीं मिल रहा है जिसकी वजह से स्त्रियाँ शहरों में घरेलू कामकाजी महिला के रूप में कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं। ‘लौटते हुए’ उपन्यास में लेखक वाल्टर भेंगरा ‘तरुण’ ने इस समस्या को बड़ी सहजता और बारीकी से उठाया है। सलोमी नामक युवती अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिये किस प्रकार अपने गाँव छोड़कर अकेली दिल्ली शहर की ओर पलायन करती है। जब उसने घर छोड़ा तो उसके परिवार वाले अत्यंत नाराज हुए थे, किन्तु जैसे ही

सलोमी ने घर पर पैसे भेजने शुरू किए तो सबकी नाराजगी दूर हो गई और सलोमी द्वारा भेजे गए पैसे को स्वीकार कर लिया गया। इस संदर्भ में एक प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें बेरोनिका सलोमी से कहती है - “मालूम हुआ था कि तुम दिल्ली से घर रुपये भी भेजती रही हो। शुरू में तो सभी नाराज थे। बिना बताए तुम्हारे चले जाने को लेकर। लेकिन तुम नियमित रूप से पैसे भेजने लगी तो गाँव में तुम्हारी माँ तुम्हारी प्रशंसा ही करती रहती है। हाँ, उसे दुःख भी है कि तुम्हें इस तरह दिल्ली जाकर काम करना पड़ रहा है।”<sup>13</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री अब केवल कमाने का जरिया बन कर रह गई है। केवल सलोमी ही नहीं, उसके जैसी कई युवतियाँ अपने गाँव छोड़कर शहर की ओर पैसे कमाने के उद्देश्य से आया के रूप में कार्य करती हैं। परिणामस्वरूप आदिवासी स्त्रियों का भयंकर यौन शोषण होता है। प्रत्येक स्तर पर स्त्रियों का आर्थिक और शारीरिक शोषण किया जाता है। लेखिका रमणिका गुप्ता ने उपन्यास ‘सीता’ में बताया है - “राँची की आदिवासी महिलाएँ प्रायः अकेले ही आती थीं काम करने। छैलों का यह दल झारखंडी नेता सन्त के नेतृत्व में बाहरी-भीतरी का सवाल उठाकर इन महिलाओं का काफी शोषण करता था। एक दहशत-सी फैल गई थी। औरतों, लड़कियों को बदमाश कहकर, स्वयं उनका शोषण भी गाहे-बेगाहे कर लेते थे ये लोग। ब्लैकमेल भी करना शुरू हो गया था महिलाओं को। इस क्षेत्र के स्थानीय लोगों के लिए यह एकदम नया हथियार था।”<sup>14</sup> इसी प्रकार एक और प्रसंग ‘लौटते हुए’ उपन्यास से द्रष्टव्य है जिसमें सलोमी खन्ना साहब की वासना का शिकार बनती है - “अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया। गिड़गिड़ायी। दुहाई दी, लेकिन असफल हो गयी थी वह। उसकी गुहार और उसकी विनती की जगह खन्ना साहब के बाहुपाश और भी सख्त होते चले गये थे। उस कठोर चंगुल में फँसकर सलोमी अपने को छुड़ा नहीं पायी उस रात और वह अंधे कुएं में धकेल दी गयी थी खन्ना साहब की हवस द्वारा।”<sup>15</sup> वस्तुतः आदिवासी समाज की स्त्रियों की कामुकता पर कभी किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। वे हर प्रकार से स्वच्छंद थीं। इस स्वच्छंदता को अनैतिक दृष्टि से देखा गया और बाहरी समाज ने इसका लाभ उठाया। फलस्वरूप आदिवासी स्त्रियाँ यौन शोषण की शिकार हुईं। अब आदिवासी समाज के

मन-मस्तिष्क में यह बात बैठा दी गई है कि स्त्रियों पर, उनकी अतिरिक्त स्वच्छंदता पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कथन इस बात की पुष्टि करता है - “कोलयरी सरकारी होने के बाद अगल-बगल के गाँव में ‘करमा’ के पर्व में औरतों के स्वतंत्र घूमने पर रोक लगाने की कोशिश होने लगी थी, कुछ बड़ी जातियों की नकल में। बाहर से आए लोगों की कुत्सित नजरों से, उन्मुक्तता को कामुक नजरिए से देखने की मानसिकता से बचने के लिए भी, एक मुक्त समाज को भय और क्षेत्रीयता के नाम पर बांधने और संकुचित करने का प्रयास चलने लगा था।...मनुवादी प्रवृत्ति के अनुकरण के कारण सभ्यता और संस्कृति का मिश्रण हो रहा था। पर इस मिश्रण से, ऊँची एवं समृद्ध जातियों के धर्म, कर्मकांड और नारी-शोषण की रूढ़िगत प्रवृत्तियों की नकल बढ़ रही थी। किन्तु अस्मिता की पहचान के नाम पर केवल नारी पर प्रतिबंध लग रहा था।”<sup>16</sup> इसका दुष्प्रभाव यह पड़ा कि आदिवासी समाज की अपनी बनी-बनाई सामाजिक संरचना नष्ट हो गई और नई पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता तथा मूल्य ने आदिवासी समाज में जन्म लिया। इसी के तहत आदिवासी समाज विशेषतः स्त्रियाँ हाशिये पर चली गईं। इसके पीछे अर्थ मुख्य रूप से कार्यरत है। अर्थोपार्जन की मुख्य जिम्मेदारी स्त्रियों पर रही है। आदिवासी स्त्रियों को विवशतावश जीविका के लिए अपने क्षेत्र से बाहर जाना पड़ता है। उनकी इसी विवशता का लाभ उठाकर युवतियों को घरेलू कामकाजी स्त्री के रूप में विक्रय किया जाता है। अर्थोपार्जन का इतना दबाव उन पर है कि वे वैश्यावृत्ति करने के लिए विवश हैं। ‘समर शेष है’ उपन्यास में लेखक विनोद कुमार ने स्त्रियों के बदतर जीवन को बड़ी मार्मिकता से उजागर किया है - “बाउरी लोग आर्थिक दृष्टि से अत्यंत विपन्न थे। उनके पास खेती करने लायक जमीन नहीं थी। वे भूमिहीन मजदूर के रूप में सामंतों के यहाँ काम करते और उनकी औरतें उनके घरों में चाकरी। लेकिन उनकी दयनीय स्थिति का फायदा उठाकर उनका शारीरिक शोषण शुरू हो गया। विरोध करने वाली औरतों को काम से हटा दिया जाता, उनके मर्दों को मजूरी नहीं दी जाती। फिर भी कारखाना लगने के पूर्व वे पूर्णरूपेण वेश्या नहीं बनी थीं। घरों में चाकरी करना उनका काम था, जहाँ जब-तब उन्हें अपने मालिक से शरीर

नुचवाने के लिए भी बाध्य होना पड़ता, लेकिन पूर्णकालिक वेश्या वे बन गईं तब जब बोकारो कारखाना के निर्माण का कार्य शुरू हुआ।<sup>17</sup> इस उपन्यास की एक पात्र सावित्री अर्थाभाव के कारण वेश्यावृत्ति के मार्ग को अपनाने के लिए विवश है। अपने पति को कहे गए कथन उसकी मनोव्यथा को उजागर करते हैं - “तुम क्या जानो...सब यही चाहते हैं हम से...छोटे मालिक तो छोटे मालिक, उनके सगे बाप को भी यह देह चाहिए और वह भी मुफ्त में...नहीं करनी मुझे अब यह बेगारी। देह की ही कमाई खानी है तो अपनी मर्जी से खाऊँगी...मुझे कोई मुगालता नहीं कि हम घर-गृहस्थी वाले हैं...खट-कमाकर खाते हैं। मालिक से शरीर न नुचवाऊँ तो वे काम भी देंगे? नहीं...कभी नहीं। उससे अच्छी है यह वेश्यावृत्ति। यह देखो, पाँच-पाँच के तीन नोट दे गया है वह भला आदमी...”<sup>18</sup>

आदिवासी समाज में स्त्रियों के प्रति जो हिंसा देखने को मिलती है उसका एक रूप डायन प्रथा है। स्त्रियों के प्रति जो हिंसात्मक रवैया अपनाया जाता है, उनमें डायन एक बड़ी समस्या के रूप में उभरकर सामने आया है जो आज भी विद्यमान है। डायन प्रथा के अन्तर्गत स्त्रियों को सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। ओझा-गुनी की सहायता से किसी भी स्त्री को डायन करार दिया जाता है। ओझा द्वारा डायन की पुष्टि होने पर उस स्त्री पर भिन्न-भिन्न तरीके से अत्याचार किए जाते हैं और इस कुप्रथा के परिणामस्वरूप हत्या भी कर दी जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण है भूमिगत अधिकार क्योंकि भूमि पर सामूहिक मालिकाना हक होने के कारण स्त्रियों का भी भूमि पर अधिकार था। अतः संपत्ति (जमीन) के लोभ में विधवा स्त्री की किसी षडयंत्र के तहत हत्या कर दी जाती है ताकि जमीन आसानी से प्राप्त हो सके। यह आदिवासी समाज में स्त्रियों की निम्न स्थिति को दर्शाता है। ‘समर शेष हैं’ उपन्यास में बलराम मांझी की विधवा रूपा की जमीन पर बिष्टू साव की कुदृष्टि रहती है। अतः जमीन हड़पने के लिए सालखन और कार्तिक को माध्यम बनाकर रूपा को डायन प्रमाणित करता है और भयाक्रांत सालखन और कार्तिक रूपा की जघन्य हत्या कर बैठते हैं। “बात शराब की भट्ठी से निकल गाँव के गली-कूचे में पहुँचती है। रूपा डाईन है...पहले पति को खाया फिर बेटे को



चबा गई...अब सालखन और कार्तिक की बारी है...इतना रूप मानुष योनी में तो नहीं मिलता...अंधेरे में जानवर की आँखों की तरह चमक रही थी उसकी आंखें...और उसकी विकराल हँसी...सालखन और कार्तिक भयाक्रांत हैं। भय से प्राण सुख गए। रूपा की चमकती आँखें...नदी किनारे की उसकी वह भीषण हँसी भुलाए नहीं भूलती। कल्पना में दिखाई देता उसके बड़े-बड़े नाखून।”<sup>19</sup> भयभीत एवं लोभी सालखन और कार्तिक रूपा की हत्या कर देते हैं। संजीव रचित ‘धार’ उपन्यास में भी इसी प्रकार का एक प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें मैना को डायन साबित करने का सामूहिक प्रयास चलता है - “टेर पूरी नहीं हो पाती। सीढ़ी पर अभी-अभी जो चेहरा उभरकर आ रहा है, उससे डरकर गले में ही फँसकर गुंगुआती रह जाती है आवाज। क्या यही मैना है? कोयले की कालिख और पसीने से सनी जुगुप्सित औरत थकान के चलते झपकती पलकें, हाँफने के क्रम में काले चेहरे के बीच झलकते उजले-उजले दाँत, अस्त-व्यस्त भीगे, गन्दे-चीकट कपड़े और चुड़ैलों से बिखरे बालों से रह-रहकर झरते कोयले के चूरे और पसीने की काली बूँदें। ना यह मैना नहीं, यह तो कोई और ही औरत है - साक्षात डायनरूपा।”<sup>20</sup> स्त्रियों के विपक्ष में तथा उसके समस्त अधिकार को पूरी तरह से मिटाने के लिए एक तरह का मिथ है जो समाज में निर्मित की गई है कि ऐसी स्त्रियाँ (डायन) बच्चे को खा जाती है, परिवार का सर्वनाश कर देती है। अतः वह समाज के लिए घातक है।

इस संदर्भ में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आदिवासी समाज अपने जीवन के लिए वनों पर निर्भर था। स्वास्थ्य के लिए वन से जड़ी-बूटी, औषधियाँ प्राप्त होती थी, किन्तु वन के समाप्त हो जाने से जड़ी-बूटियाँ उपलब्ध नहीं होती थी। सरकार द्वारा स्थापित चिकित्सालय, अस्पताल आदिवासी क्षेत्रों से काफी दूर थे और आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य केन्द्र की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। अतः आदिवासियों का निज औषधीय ज्ञान नष्ट हुआ और उसका स्थान तांत्रिक विद्या ने ले लिया, तंत्र-मंत्र जादू-टोना द्वारा रोगों के इलाज की प्रक्रिया शुरू हुई तथा ओझों को बढ़ावा मिला। इसी के तहत डायन प्रथा का चलन आदिवासी समाज में प्रचलित हो उठा और स्त्रियाँ हाशिये पर चली गई।

शिक्षा जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का एक सशक्त माध्यम होता है। शिक्षा प्राप्त करने का सबको समानाधिकार है, किन्तु इसी शिक्षा से आदिवासियों को विशेषतः स्त्रियों को वंचित रखा गया। सरकार ने विकास से संबंधित कई योजनाएँ बनाई, किन्तु स्त्रियों के प्रति गौण दृष्टि रखते हुए किसी प्रकार की चिंता व्यक्त नहीं की और न ही नीति निर्धारित करते समय उनकी स्थितियों को ध्यान में रखा गया। दुष्प्रभाव यह पड़ा कि शिक्षा के क्षेत्र में भी स्त्रियों के अधिकार समाप्त कर दिए गए और पुरुषों को ही शैक्षिक अधिकार प्रदान किया गया। यदि सरकार द्वारा नए रोजगार के अवसर की बात आती है तो उन अवसरों से स्त्रियों को वंचित कर दिया जाता है जो आज के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण समस्या बनकर उभरी है। 'लौटते हुए' उपन्यास में सलोमी अपनी पढ़ाई छोड़कर धनोपार्जन के लिए शहर की ओर जाती है ताकि उसके भाई-बहनों को अच्छी शिक्षा प्राप्त हो सके और उनका जीवन स्तर ऊँचा हो। लेखक के शब्दों में - "वह जानती थी कि वह घर से भाग गयी थी। किसी को उसने नहीं बताया था। चुपचाप चली गयी थी। वैसे उसका मकसद नेक था। उसने चोरी नहीं की थी। किसी से झगड़ा भी नहीं किया था। वह तो इसलिए दिल्ली चली गयी थी कि रुपये कमाये जिससे अपने छोटे भाई-बहनों को पढ़ा सके। घर की गिरती हालत में थोड़ा सुधार लाने में मदद दे सके। यही इरादा था उसका।"<sup>21</sup> वह शिक्षा के महत्व को समझती थी इसलिए भाई-बहन के उज्ज्वल भविष्य की कामना हृदय में रखे अपने पथ पर आगे बढ़ जाती है - "वह तो बस पैसे कमाने का साधन मात्र बनकर रह गयी थी। अपने संकल्प और छोटे भाई-बहनों के प्रेम जाल में फंस गयी थी वह। यह त्याग था क्या उसका? रात को जब सोने का प्रयास करती तो यह सवाल उसे और उलझन में डाल देता। वह स्वयं को समझाती कि वह जिन परिस्थितियों से होकर गुजर रही है, अपने छोटे भाई-बहनों को उनसे मुक्त रखने का प्रयास करेगी। उनके लिए एक सुंदर भविष्य बनाने का वह प्रयत्न करेगी।"<sup>22</sup> आदिवासी पूर्णतः जंगलों पर निर्भर थे और खेती करके अपना गुजर-बसर करते थे, किन्तु वनों की अंधाधुंध कटाई और खुदाई, विकास की योजनाओं ने आदिवासियों के जीवन को काफी क्षति पहुँचाई जिससे मुख्य रूप से खाद्य समस्या

उत्पन्न हो गई। खाद्य आपूर्ति उस रूप में भी नहीं हो पा रही थी जिस तरह की परिस्थितियों की मांग थी। अतः जीविकोपार्जन की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया और स्त्रियों के संदर्भ में देखा जाए तो इन सबकी मार सबसे अधिक स्त्रियों को झेलनी पड़ी। शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक रूप से शोषण की शिकार स्त्रियाँ हुईं और आज भी निरंतर जारी है। एक सहयोगी के रूप में स्त्रियों ने पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अर्थोपार्जन में सहायता की, किन्तु उसके योगदानों को नगण्य माना गया, उसे कभी स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुष को प्राथमिकता दी जाती है और स्त्रियों को गौण। पारंपरिक अधिकारों से वंचित स्त्रियाँ उपेक्षित एवं उत्पीड़ित जीवन जीने के लिए विवश हैं जो आज के संदर्भ में एक जटिल समस्या के रूप में प्रस्तुत है।

अतः कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज में प्राचीन काल से स्त्रियों को बहुत आदर-सम्मान दिया जाता था। आदिवासी क्षेत्र खनिज सम्पदा से भरपूर रहा है। विस्थापन की चपेट में आने के बाद उन्हें अपने ही क्षेत्र से निकाल दिया गया और स्त्रियों की स्थिति दयम दर्जे की हो गई। कल-कारखानों की स्थापना, एक शहर से दूसरे शहर बसना, दर-दर भटकना - इन सबका अधिक प्रभाव स्त्रियों पर ही पड़ा। औद्योगीकरण के फलस्वरूप स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं रहीं, वह चाहे आदिवासी हो या गैर आदिवासी। बाहरी समाज का बढ़ता संपर्क और उसका अनुकरण स्त्रियों के विकास में बाधक सिद्ध हुआ है। आदिवासी समाज के समतावादी दृष्टिकोण पर कुठाराघात हुआ और पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता घर करने लगी। स्त्रियों के अपने अधिकार के प्रति आवाज बुलंद करने की मानसिकता को दबा दिया जा रहा है यानी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो रही है। अर्थात् बाहरी मानसिकता ने स्त्रियों को पिछड़ा बना दिया है और उनकी अपेक्षाकृत स्वतंत्र स्थिति पर नियंत्रण लगाकर उन्हें हाशिये पर ला खड़ा कर दिया है।

### iii) सामाजिक संक्रमण और प्रभाव

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समुदाय में रहता है। समाज से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। समुदाय में रहकर एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए आगे बढ़ते हैं। भिन्न-भिन्न समुदाय से सम्पर्क स्वाभाविक है। वे एक दूसरे से परिचित होते हैं। समुदाय आपस में भिन्न-भिन्न कारणों से सम्पर्क में आते हैं। गाँव अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरे गाँव में प्रवेश करता है तो सम्पर्क में आता है। कई बार व्यापार के उद्देश्य से एक समुदाय दूसरे समुदाय के सम्पर्क में आता है। अर्थात् सम्पर्क में आना मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन यह भी स्वाभाविक है कि सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव सम्पर्क में आने वाले समाज पर पड़ता है। सम्पर्क में आने से संक्रमण की स्थिति उत्पन्न होती है। सदियों से समाज आपस में मिलते रहे हैं, संक्रमण होता रहा है। संक्रमण एक अवस्था में धीरे-धीरे बदलते हुए दूसरी अवस्था में पहुँचने की स्थिति है या एक रूप से दूसरे रूप में बदलने की क्रिया है। यह प्रक्रिया तुरंत नहीं होती, कई अवधि के पश्चात् बदलाव की प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

अंग्रेजी सत्ता के आने से पहले तक आदिवासी स्वतंत्र भाव से जीवन व्यतीत करते थे। जंगल में आने-जाने पर कोई पाबंदियाँ नहीं थी। जल, जंगल और जमीन पर उनका अधिकार स्वतंत्र रूप से था। लेकिन ब्रिटिश ईस्ट इंडिया जब भारत में अपना राज्य धीरे-धीरे करके स्थापित कर रही थी तबसे आदिवासियों की स्वतंत्रता बाधित हो गई। उनकी जीवन-शैली, संस्कृति, रीति-रिवाज, वेशभूषा इत्यादि सभी पर प्रतिबंध लग गए। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। उसकी इसी कृषि व्यवस्था पर रोक लगा दी गई। जंगल की भूमि के एकमात्र दावेदार आदिवासी ही थे। स्थायी बन्दोबस्त को लागू करने के साथ-साथ कम्पनी सरकार ने वहाँ की व्यवस्था को बदल दिया। “स्थायी बन्दोबस्त के साथ कम्पनी सरकार ने जंगल के साथ आदिवासियों के सम्बन्ध को भी बदल डाला था। जंगल की भूमि और वनोपज ही नहीं, गाँव की गैरमजदूरी भूमि के उपयोग पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया था।”<sup>23</sup> कम्पनी सरकार ने

अपने अनुकूल नई व्यवस्था बनाई और नए नियम-कानून भी निर्मित किए। पूंजी निवेश कर अधिक से अधिक धन कमाना आधुनिक अर्थव्यवस्था की मुख्य प्रवृत्ति थी। सब कुछ पूंजी पर आधारित था। अंग्रेजी सत्ता के आने पर एक नई व्यवस्था का उदय हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि परम्परागत व्यवस्था को समाप्त कर एक नई व्यवस्था को जन्म दिया जिसे स्थायी बन्दोबस्त के नाम से जाना जाता है। इस बड़ी व्यवस्था ने आदिवासियों को अपने जड़ से ही उखाड़ दिया। उनकी सांस्कृतिक धरोहर, जीवन-शैली, रीति-रिवाज आदि को बाधित किया और उन्हें अपनी ही जमीन से बेदखल कर दिया। इन्हें विरासत में मिली संस्कृति को खत्म करने का प्रयत्न किया गया।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि आदिवासी बहुत मेहनती और परिश्रमी होते हैं, उनके परिश्रम का यह प्रमाण था कि उन्होंने जंगल के बंजर जमीन को उपजाऊ बनाया और जीवनयापन करने लगे। वे अब जंगल के स्थायी निवासी हो गए थे। इसके साथ ही अंग्रेजों का भारत में आगमन हुआ और अपना राज्य स्थापित करने की कोशिश की। अंग्रेजों ने वसूली करने के लिए अपने कारिन्दों के रूप में साहूकारों, महाजनों आदि वर्गों को जन्म दिया ताकि वे लोग किसान और मजदूरों से कर वसूल सके। जंगल पर अंग्रेजों का आधिपत्य बढ़ता जा रहा था और आदिवासी जो जंगल के अधिराज थे, जिनका अस्तित्व जल, जंगल, जमीन से जुड़ा हुआ था, उन्हें ही बेदखल कर दिया और उन्हें हर अधिकारों से वंचित कर दिया गया। अर्थात् जंगलों पर आदिवासियों के पूर्वजों का अधिकार था, उन्हें नीलाम कर दिया और खदेड़ दिया। कम्पनी सरकार का भू-राजस्व व्यवस्था लागू करना तथा जंगल की परम्परागत व्यवस्था को नष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

कम्पनी सरकार ने अपने अनुकूल हितों की रक्षा के लिए कई योजनाएँ बनाई जैसे रेलों का जाल बिछाना, उसके लिए मिट्टी काटना, पठार को समतल बनाना, पहाड़ खोदना, सुरंग बनवाना, नदी-नालों पर पुल का निर्माण जैसे कार्य करवाना इत्यादि। साथ-ही-साथ कम पूंजी

लगाकर अधिक से अधिक लाभ कमाने की योजना बनायी। अर्थात् अंग्रेजों को अनुभव हुआ कि अब भारत में उनकी जड़ें मजबूत हो चुकी हैं अतः उसे और शक्तिशाली बनाने के लिए आर्थिक रूप से शक्तिशाली बनना उनके लिए और भी अति आवश्यक हो गया। कम्पनी सरकार भारत में आयात-निर्यात के लिए आई थी और तब से भारत से कच्चा माल विदेश भेज दिया जाता था जो पक्के माल में तैयार होकर पुनः भारत में बिक्री के लिए भेज दिया जाता था। इससे अपने देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने का अवसर मिल गया था तथा यही उनकी जीत की पहली सीढ़ी थी। इसलिए भारत को विदेशी लोग सोने का खजाना मानते थे तथा इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति को सुधारने का एक माध्यम मिल गया था। उनके लिए “भारत मात्र साधु, सँपेरों, जादू और हाथियों का देश ही नहीं था बल्कि भारत इंग्लैंड को उसकी आर्थिक मंदी से उबारने वाली सोने की खान भी था। भारत से भेजे गये रुपयों से लंकाशायर और मैनचेस्टर में भाप के इंजन से चलनेवाले कारखाने स्थापित हो रहे थे। इंग्लैंड बारूद का आविष्कार कर चुका था और बारूद का प्रमुख घटक शोरा ‘दामिन-ए-कोह’ में विपुल भंडार के रूप में भरा था।”<sup>24</sup>

वस्तुतः भारत में आक्रोश की आग सुलगने लगी थी और आदिवासी जनता को उनके स्वयं के जल, जंगल और जमीन से बेदखल कर दिया तथा पूरे जंगलों पर कम्पनी सरकार का राज हो गया। अतः अपने अधिकारों के लिए आदिवासी जनता की आवाज उठने लगी जो उनसे जबरदस्ती जब्त कर ली गई थी। इन सबने मिलकर इंग्लैंड की जड़ को हिलाकर रख दिया था। इंग्लैंड के विकास में यह सबसे बड़ी बाधा बन गई थी। यह कम्पनी सरकार के लिए स्वीकार्य नहीं था और आंदोलन को दबाने का भरसक प्रयत्न किया गया था। यही उनके लिए आवश्यक बन गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि भारत में विद्रोह उत्पन्न होगा तो राज करने का स्वप्न समाप्त हो जाएगा और उपनिवेश की स्थापना असंभव हो जाएगी। विशेष बात यह है कि छल कपट, कूटनीति, दांव-पेंच अंग्रेज बखूबी जानते थे। अंग्रेजी सरकार भारत आई तो सबसे पहले उन्होंने ‘फूट डालो और राज करो’ की नीति अपनाई ताकि भारतवासियों के मन में एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष और जातिभेद की भावना उत्पन्न हो जाए तथा एकता

और सामूहिकता नष्ट हो जाए। उनकी इस कूटनीति के तहत लोगों में आपसी मतभेद की भावना उत्पन्न हुई। लेकिन तिलका मांझी, बिरसा मुंडा, सिदो, कान्हू, चाँद, भैरव जैसे जननायकों ने उनके बीच मतभेद को दूर कर जनचेतना जाग्रत करने का कार्य किया तथा उनके बीच एकता और सामूहिकता की भावना को स्थापित करने का भी कार्य किया। यह जन चेतना जन आंदोलन में परिवर्तित हो गया। आदिवासियों के संघर्ष, साहस, शौर्य और जुझारूपन के आगे अंग्रेजी सरकार टिक नहीं पाई। इनका आंदोलन आमरापाड़ा से आगे बढ़ गया। जमींदारों, साहूकारों और महाजनों ने अपनी रक्षा के लिए पहलवानों को तैनात किया था, लेकिन उनकी क्रांति के समक्ष पहलवानों ने भी घुटने टेक दिए। सिदो के नेतृत्व में अपनी धरती के लिए आदिवासियों ने अंतिम श्वास तक लड़ाई लड़ी - “कम्पनी सरकार के सिपाहियों ने अन्तिम क्षणों तक गोलियां बरसाना बन्द नहीं किया था परन्तु ‘अबुआ राज’ के लिए मारने-मरने पर उतारू थे सिदो के लड़ाके। अपनी धरती के लिए कट मरने को प्रस्तुत थे आदिवासी। मिट्टी को अपने ही रक्त से कीचड़-कीचड़ कर डालने को प्रस्तुत वनवासी सिदो, कान्हू, भैरव और लुखीराम बेसरा के नेतृत्व में आखिरी साँस तक तीर चलाते रहे तो कम्पनी सरकार के वेतनभोगी सिपाहियों को भी जान के लाले पड़ गए थे।”<sup>25</sup>

अंग्रेजों के शोषण से त्रस्त होकर भारतीय जनता उनसे मुक्ति की कमाना करने लगी और 1947 में आखिरकार अंग्रेजी व्यवस्था से मुक्ति मिली, इस आशा के साथ कि अब अपना राज होगा यानी ‘अबुआ राज’। अपने देश के लोग अपने आदिवासी लोगों के साथ उस तरह का बर्ताव नहीं करेंगे जिस तरह का अंग्रेजों ने किया, किन्तु परिणाम विपरीत ही निकला। स्थिति और भी भयावह हो उठी। व्यवस्था बदलने से आदिवासियों की स्थिति में बदलाव नहीं आया, बल्कि ज्यों की त्यों बनी रही। ‘समर शेष है’ उपन्यास में बाबा सोबरन से कहते नजर आते हैं - “हमारे लिए जैसे फिरंगी, वैसे ये लोग। किस आजादी की बात कर रहे हो तुम? मुझे तो कहीं कोई फर्क नजर नहीं आ रहा है। मैंने तो जब से होश संभाला है, अपने लोगों को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते देखा है। मरते और मारते देखा है।”<sup>26</sup> आजादी के बाद बड़े-बड़े कल-कारखाने

एवं उद्योग स्थापित हुए और इन सारे उद्योगों की स्थापना आदिवासी इलाकों में हुई क्योंकि उद्योगों की स्थापना के लिए कच्चे माल के रूप में संसाधन, सस्ते श्रमिक, जमीन बड़ी मात्रा में इन क्षेत्रों में उपलब्ध थे जो अत्यधिक मुनाफा कमाने के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। अतः आदिवासियों की जल, जंगल, जमीन का उच्च मात्रा में दोहन किया गया। देश आजाद हुआ, जमींदारी प्रथा समाप्त हुई तथा जमींदारों से मुक्ति भी मिली, किन्तु शोषण से मुक्ति केवल स्वप्न ही बनकर रह गई। सरकार ने देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए कई योजनाएँ बनाई जिसके अंतर्गत कल-कारखाने, उद्योग, बांध आदि का निर्माण करवाया और यह सब क्रियान्वित भी हुआ, किन्तु यह सब आदिवासियों के हितों के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। उनकी उन जमीनों को हड़प लिया गया जिसे उनके पुरखों ने अपने परिश्रम से सींचा था। वस्तुतः जमीन के कण-कण पर आदिवासी समाज का अधिकार रहा है और यह अधिकार उनसे छीन लिया गया। 'समर शेष है' उपन्यास में बाबा सोबरन से कहते हैं, "आज अपने चारों तरफ जो खेती लायक जमीन तुम देख रहे हो, वह इंच-इंच जमीन हमारे पुरखों ने अपने खून-पसीने से सींच-सींचकर बनाई है। इसीलिए हम कहते हैं - यह जंगल और यह जमीन हमारी है। हम इसके मालिक हैं। हम किसी को लगान क्यों दें? जमीन हमें किसी से पट्टे पर नहीं मिली है।"<sup>27</sup> अतः आदिवासियों की जमीनें थोक के भाव में अधिग्रहित की गई और उचित मुआवजा भी नहीं दिया गया। विवश होकर वही मुआवजा लेना पड़ा जो अधिकारियों ने तय किया। आदिवासियों की जमीन इस वायदे के अनुसार ली गई कि उन्हें नौकरियाँ मिलेंगी, रहने के लिए आवासीय कॉलोनी दी जाएगी, किन्तु वायदे के अनुकूल कोई कार्य नहीं हुआ। न ही उन्हें आवासीय कॉलोनी दी गई अर्थात् रहने की कोई व्यवस्था नहीं की गई और न ही कोई नौकरी की सुविधा प्रदान की गई। 90 के दशक में भारत सरकार द्वारा उदारिकरण की नीति अपनाई गई और विदेशी कम्पनियों को व्यापार करने की छूट दी गई। अर्थात् ज्यादा से ज्यादा पूँजी निवेश करने को बढ़ावा दिया गया और वृहद उद्योगों एवं योजनाओं की स्थापना सक्रियता से की गई। लेकिन आदिवासियों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य यह है



कि व्यवस्था बदली, किन्तु आदिवासियों के हितों के अनुकूल किसी भी व्यवस्था ने कार्य नहीं किया।

सामाजिक संक्रमण का एक मुख्य कारण है आदिवासी क्षेत्र में बाहरी व्यापारी वर्गों का प्रवेश विशेषतः शराब का व्यापार के रूप में स्थापित करने वाले व्यापारी वर्गों का प्रवेश। आदिवासी जंगलों में रहते थे। वे जंगलों में पाई जाने वाली वस्तुओं से परिचित थे। लेकिन जब व्यापारी वर्ग भारत व्यापार करने के उद्देश्य से आए तो उन्हें जंगलों की मूल्यवान वस्तुओं की परख थी। इसलिए उन लोगों ने व्यापार को ही माध्यम बनाया। उन लोगों ने शराब को व्यवसाय का आधार बनाया और सामग्री के द्वारा उन्हें मुनाफा होने लगा। व्यापारियों ने आदिवासियों को शराब पेश किया और बदले में उन्हें महुआ का फूल प्राप्त होने लगा जो शराब बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक सामग्री थी। सरल एवं भोले-भाले आदिवासी उन्हें थोड़ी सी शराब के बदले महुआ का फूल देने लगे और उनके षड़यंत्र और शोषण के शिकार हुए। इस प्रकार उनका न केवल आर्थिक, बल्कि सांस्कृतिक शोषण किया गया। इस संदर्भ में हेरॉल्ड एस. तोपनो का कथन सार्थक प्रतीत होता है - “सांस्कृतिक क्षेत्र में वे शराबखोरी के आदी बनते गये और आर्थिक क्षेत्र में झूठे सूद के जाल में फंसते चले गये। फलस्वरूप इस तथाकथित झूठे सूद को चुकाने के लिए उन्हें अपनी जमीन व्यापारियों या अन्य लोगों के हाथों हस्तांतरण करने को बाध्य होना पड़ा।”<sup>28</sup> दूसरी तरफ व्यापार में बढ़ोतरी हो रही थी। इन लोगों ने व्यापार को बढ़ते देख बाहरी क्षेत्रों से सम्पर्क स्थापित कर व्यापार किया। वन क्षेत्रों से प्राप्त सामग्रियों को क्षेत्र के बाहर विक्रय करके अत्यधिक मुनाफा कमाने लगे और इस प्रकार वन सामग्रियाँ व्यवसाय का माध्यम और व्यापारियों के मुनाफे का जरिया बनकर रह गईं।

आदिवासी समाज एक स्वतंत्र समाज रहा है, स्वतंत्र रूप से, स्वतंत्र तरीके से, स्वतंत्र क्षेत्र (जंगल और पहाड़) में निवास करते आए हैं। उन्हें यह कतई पसंद नहीं कि कोई बाहरी व्यक्ति उनके समाज में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करे। किन्तु भारत में अंग्रेजों के आगमन

के पश्चात् यह हस्तक्षेप देखने को मिलता है। तभी से आदिवासी समाज में संक्रमण का दौर शुरू हुआ जो स्वतंत्रता के पश्चात् अनवरत जारी रहा। भारत अपने अमूल्य धन-सम्पदा की वजह से सोने की चिड़िया के नाम से जाना जाता था। अंग्रेजों का साम्राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया और भारत पर अपना उपनिवेश स्थापित किया तथा अपनी शक्तिशाली सत्ता निर्मित की। अंग्रेजों ने सबसे पहले आदिवासियों को अपना निशाना बनाया क्योंकि उनकी दृष्टि वन की प्राकृतिक सम्पदा पर थी। अतः वे आदिवासियों के सम्पर्क में आए और धीरे-धीरे अपनी सत्ता कायम की। अंग्रेजों का सीधा प्रभाव आदिवासियों पर नहीं था, अपने कारिंदों के माध्यम से अंग्रेजों ने अपना दबदबा कायम रखा। अंग्रेजों के शासन का सबसे अधिक प्रभाव आदिवासियों पर पड़ा। सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, किन्तु आदिवासी समाज पर सकारात्मक कम और नकारात्मक प्रभाव अधिक पड़ा। आदिवासी समुदाय अंदर ही अंदर खोखला हो गया। उनकी अपनी सामाजिक प्रणाली प्रभावित हुई, परंपरागत संस्था पर कुठाराघात हुआ और समाज बिखरने लगा।

संक्रमण के इस दौर में बहिरागतों का बड़े पैमाने पर प्रवेश हुआ और आदिवासी क्षेत्रों में दलाल वर्ग का उदय हुआ। एक समय में दलालों का अपना वर्चस्व था और आज भी है। अंग्रेजी शासनकाल में इन्हें बड़ा आदर दिया जाता था। भूमंडलीकरण के पश्चात् गैर आदिवासी जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि हुई और इसके साथ ही जमीन की कीमत में भी अचानक वृद्धि हुई। उन दलालों और भू-माफियाओं के लिए जमीन मुनाफा का एक महत्वपूर्ण जरिया बन गया है और जमीन को विभिन्न तरीकों से खरीद-बिक्री कर मुनाफा अर्जित करने में लग गए हैं। इनका प्रभाव क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि क्षेत्र से ऊपर उठ कर ग्लोबल होता जा रहा है। दुर्भाग्य की बात यह है कि जमीन की इस खरीद-बिक्री में आदिवासी शामिल हैं। यह सब जानते हुए कि यह जमीन उनके आदिवासी लोगों की है, उन्हें बेचने में लगे हुए हैं। जमीन के मालिकों को तो कोई लाभ नहीं मिलता है, लेकिन सबसे अधिक मुनाफा बिचौलिये यानी दलाल और भू माफियाओं को होता है। जमीन के क्रय-विक्रय के क्रम में आदिवासियों के

धार्मिक स्थल को भी नहीं बखशा गया। उसे भी विक्रय का साधन बनाया गया जिसका आदिवासियों ने विरोध किया। कहने का अभिप्राय यह है कि संगठित होकर ही जमीन के अवैध हस्तांतरण को रोका जा सकता है अन्यथा आदिवासी समाज और संस्कृति दोनों समाप्त हो जाएगी।

प्रत्येक समुदाय अपना एक सामाजिक ढाँचा निर्मित करता है, उनकी एक सामाजिक संरचना होती है। आदिवासी समुदाय की भी अपनी सामाजिक व्यवस्था है। जिस सूत्र ने आदिवासी समाज को आपस में जोड़े रखा है वह है सामूहिकता। सामूहिकता आदिवासी समाज की पहचान है। समूह में रहकर जीना पसंद करते हैं, किन्तु अंग्रेजों के सम्पर्क से सामूहिक तंत्र व्यवस्था प्रभावित हुई और धीरे-धीरे नष्ट होती गई। सामूहिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ले लिया। संक्रामक अवस्था में रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रवेश करता है ठीक उसी प्रकार किसी समाज का प्रभाव सम्पर्क में आने वाले समाज पर पड़ना स्वाभाविक है। अंग्रेजों द्वारा भूमि का निजी पट्टा प्रदान करना इसका प्रमाण है। अंग्रेजों ने अपने कारिंदों के माध्यम से आदिवासियों की बस्ती जल, जंगल और जमीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उन्होंने आदिवासियों के बीच जाति-प्रथा और धर्म का बीज बोया। उनमें ईर्ष्या और द्वेष की भावना उत्पन्न हुई। आदिवासी समाज के लिए ख़ास है उनकी सांस्कृतिक धरोहर। ये सदैव से ही प्रकृति के आश्रित और संरक्षण में रहे हैं।

आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष दोनों ही स्वच्छंद जीवन व्यतीत करते थे। अन्य समाज की अपेक्षा आदिवासी स्त्रियों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। वे स्वच्छंद विचरण कर सकती थीं। कामुकता को लेकर किसी प्रकार कोई बंधन नहीं था और न ही कामुकता को लेकर किसी प्रकार की कोई अवधारणा है। लेकिन उनकी इस कामुकता को गलत दृष्टि से देखा गया। यह संक्रमण की स्थिति का प्रभाव था जिसने आदिवासियों की मानसिकता को परिवर्तित कर दिया। स्त्रियों को नियंत्रण में रखने की प्रवृत्ति गैर आदिवासी समाज में मुख्यतः प्रचलित रही है जो सम्पर्क

में आने के पश्चात् आदिवासी समाज में भी घर कर गया। पुरुष स्वयं को उच्च मानकर स्त्रियों को दोगुना दर्जे का मानने लगे। इस संदर्भ में विख्यात लेखिका व समाजकर्मी रजनी मुर्मू का कथन द्रष्टव्य है - “जैसे-जैसे आदिवासी हिंदुओं के स्कूल में शिक्षित होने लगे और उनके तथाकथित संस्कार का पाठ पढ़ने लगे, उन्होंने अपने घर की स्त्रियों को कंट्रोल करना शुरू कर दिया। जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम एक-दूसरे की स्त्रियों को एक-दूसरे से बचाने के लिए नियंत्रित कर रहे थे, हमने भी यही प्रक्रिया अपनाते हुए आदिवासी समाज के इज्जत का ठीकरा आदिवासी औरतों पर लाद दिया। हमने आदिवासी समाज के तथाकथित शुद्धता को बचाए रखने के लिए लड़कियों को दंडित करना शुरू कर दिया।”<sup>29</sup> आदिवासी समाज में स्त्रियों के साथ दुष्कर्म की बढ़ती घटनाएँ इसी का परिणाम हैं क्योंकि बाहरी समुदाय के संपर्क में आने से पहले आदिवासी समाज में सामूहिकता का प्राधान्य था जिसमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थी। सामूहिकता समाप्त हुई और स्त्रियाँ हाशिये पर चली गईं। इस संदर्भ में ‘समर शेष है’ और ‘रेड जोन’ उपन्यास के लेखक विनोद कुमार का कथन द्रष्टव्य है - “आदिवासी बहुल इलाकों में तो बलात्कार की घटनाएँ विरल थी। अपसंस्कृति और तथाकथित मुख्यधारा के संसर्ग में आने के बाद हाल के वर्षों में यहाँ भी छिटपुट बलात्कार की घटनाएँ होने लगी हैं। यानी जिस समाज और सभ्यता को हम विकसित मानते हैं, बलात्कार की घटनाएँ वहाँ ज्यादा होती हैं और जिस समाज को हम असभ्य और पिछड़ा मानते हैं, वहाँ बलात्कार की घटनाएँ कम होती हैं या नहीं होती।”<sup>30</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री को पुरुष की बराबर न समझकर पुरुषों से कमतर आँकने की प्रवृत्ति अपसंस्कृति के फलस्वरूप उत्पन्न हुई, जिसका प्रभाव स्त्रियों के प्रति बढ़ते आपराधिक मामलों के रूप में देखा जा सकता है।

आदिवासी समाज में सौंदर्य-बोध को लेकर परिवर्तन परिलक्षित हुआ है। सौंदर्य को देखने और अनुभव करने की दृष्टि ही बदल गई है। केवल स्त्री ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत की सुन्दरता को देखने का नजरिया ही परिवर्तित हो गया है। लेखक हरिराम मीणा ने अपनी पुस्तक ‘आदिवासी दर्शन और समाज’ में शरण कुमार लिम्बाले की सत्यं, शिवम व सुन्दरम

की परिभाषा इस प्रकार दी है - “मनुष्य प्रथमतः मनुष्य है, यही सत्य है। मनुष्य की स्वतन्त्रता ही शिव है। मनुष्य की मनुष्यता ही सुन्दर है।”<sup>31</sup> आदिवासी समाज में सौन्दर्य के क्या मायने हैं, इस पर अपना विचार रखते हुए वे कहते हैं - “उनके यहाँ सौन्दर्य जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। भौतिक सुविधाएँ चाहे अत्यल्प हों उनके यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य का भाव दिखाई देगा। उनके नृत्य-गीत प्रकृति की भाव-भंगिमाओं यथा ऋतुओं, फसलों एवं श्रम से जुड़े हुए हैं। उनके लिए कला ‘फुर्सत का रियाज़’ नहीं होती, प्रत्युत जीवन में रची-रमी-बसी होती है।”<sup>32</sup> अर्थात् आदिवासी समुदाय में स्वयं के लाभ का कोई स्थान नहीं, बल्कि समस्त प्रजाति इस जगत का लाभ उठाए, सहअस्तित्व की भावना सदैव जागृत रखे, यही आदिवासी दर्शन है। मुख्यधारा समाज में स्त्रियों को मूलतः उसकी सुन्दरता की वजह से जाना जाता है। आदिवासी समाज में ऐसा कोई मापदंड नहीं है कि स्त्रियाँ सुन्दर होगी, गोरी होगी, छरहरी होगी। अब जीवन में विज्ञापन तथा टेलीविजन का बड़ी तेजी से प्रवेश हो रहा है यानी कि आधुनिक तकनीकी हावी हो रही है। रंग-रूप तो नश्वर होता है तथा इससे समाज या परिवेश को कोई विशेष लाभ नहीं होता है, लेकिन स्वच्छता से पूरे समुदाय के कल्याण के साथ-साथ प्रकृति का भी कल्याण होता है। बाजार या भूमंडलीकरण के प्रभाव से स्वच्छता श्रम साध्य हो गया है। घर को स्वच्छ रखना, सुचिक्कन रखना अत्यंत परिश्रम का कार्य है जिस पर ध्यान आकर्षित नहीं होता है। टेलीविजन का आना इसका सबसे बड़ा कारण है। व्यक्ति टेलीविजन के सामने बैठकर सुविधापरस्त होने का आदी हो गया है और अपनी सुविधा की चाह को अतिरिक्त बढ़ा दिया है। जो समय व्यक्ति कई कार्यों में लगाता था, टेलीविजन देखने की व्यस्तता ने उसे अकर्मण्य बना दिया है। इस प्रकार आदिवासी समाज में जो वैशिष्ट्य विद्यमान थे, वे प्रभावित हो रहे हैं और समाज की एक भिन्न धारणा निर्मित हो रही है।

आदिवासी समाज कृषि प्रधान समाज रहा है। इन्होंने जंगल को अपने परिश्रम से साफ कर कृषि योग्य भूमि बनाया और प्राकृतिक तरीके से खेती करना शुरू किया। वे आवश्यकतानुसार खेती करते थे और अपना जीवनयापन करते थे। यद्यपि इनकी आवश्यकताएँ सीमित थी,

किन्तु वह अपने आप में पूर्ण था। बाहरी जगत के सम्पर्क के फलस्वरूप उनकी कृषि व्यवस्था प्रभावित हुई। अंग्रेजों की कूटनीति ने अपनी ही जमीनों पर उनके अधिकार समाप्त कर दिए। वे अपनी ही जमीनों पर बंधुआ मजदूरी करने पर विवश हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उनकी बिगड़ती स्थिति में और भी इजाफा हुआ। उनकी जीविका के साधन नष्ट हुए और गाँव छोड़ शहर की ओर पलायन की शुरुआत हुई। बड़े-बड़े कारखाने, उद्योगों की स्थापना के लिए उनकी भूमि थोक के भाव में अधिग्रहीत की गई। कहने का तात्पर्य यह है कि बाहरी संस्कृति के सम्पर्क में आते ही उनसे उनका सब कुछ छीन गया और वे 'निज घरे परदेसी' हो गए। अपना मुख्य पेशा छोड़कर ऐसे कार्य करने को विवश हुए जो बाहरी संस्कृति की देन हैं क्योंकि आदिवासियों को अपने गाँव, जंगल, जमीन त्यागकर बाहर जीविकोपार्जन की खोज करना स्वीकार्य नहीं। 'समर शेष है' का सोबरन इस संदर्भ में तर्क प्रस्तुत करता है - "मत जाओ बाहर काम करने, यह धरती, यह जंगल हमारा पेट भरने के लिए काफी है। हमारी नदियों में हमेशा इतना पानी रहता है कि हमारी प्यास बुझती रहे। पूछो जीरन से बाहर जाने वालों के साथ क्या होता है। रामेश्वरी कहाँ गुम हो गई किसी को पता है? इस जंगल, इस जमीन को दुश्मनों के चंगुल से मुक्त करो, फिर कहीं बाहर जाने की जरूरत हमें, हमारे बच्चों को नहीं पड़ेगी।"<sup>33</sup>

बाहरी जगत के सम्पर्क में आने पर आदिवासी समाज में से एक शिक्षित वर्ग निर्मित हुआ है। मुख्यधारा के बीच रहकर शिक्षा प्राप्त करने में सक्षम तो हो रहे हैं, किन्तु इसका प्रभाव यह पड़ता है कि एक नए प्रकार की मानसिकता इस वर्ग में तैयार हो रही है। उनके सामने एक प्रतिबिम्ब है। शिक्षा हमारे अंदर की चेतना को जाग्रत करती है जिससे हम अपनी भीतर छुपी सुंदरता को देख सकने में सक्षम होते हैं, किन्तु आदिवासी समुदाय अपनी सुंदरता को स्वयं न देखकर दूसरों की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि वे अपने आप को हीन समझते हैं। मुख्यधारा की संस्कृति और समाज आज एक उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत है और इसका मानव जाति पर ग्लोबल रूप से प्रभाव पड़ रहा है। जिस प्रकार की शिक्षा सामग्री आदिवासियों को उपलब्ध कराई जा रही है इससे किसी को गुलाम बनाने या किसी प्रभावित

समाज में कमतर आँकने की दृष्टि प्रदान करती है, फलस्वरूप शिक्षित आदिवासी वर्ग हीन भावना से ग्रस्त हैं और वे अपनी वास्तविक पहचान को स्वीकार करने में संकोच का अनुभव करते हैं। प्रो. वीर भारत तलवार के कथनानुसार - “जहां तक मानसिकता का सवाल है, आमतौर पर यह देखा जाता है कि शिक्षित आदिवासी - और शिक्षित दलित भी शहरों में सम्पन्न होने के बाद अपनी वास्तविकता को छुपाते हैं और अपने वर्ग के हिंदुओं की देखा देखी करते हुए प्रदर्शन की प्रवृत्ति से ग्रस्त हो जाते हैं। लेकिन मेरी जानकारी में ऐसा ज्यादातर उन्हीं जगहों में होता है जहां आदिवासियों के प्रति विरोध भाव रखने वाले गैर-आदिवासियों की भरमार हो और उनके बीच आदिवासी नगण्य हो।”<sup>34</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपनी आइडेंटिटी को भूलकर उस आदर्श को अपनाने लगे हैं जो वास्तव में उनकी है ही नहीं। वस्तुतः एक काल्पनिक दुनिया मान लिया गया है जिससे हीन भावना उत्पन्न होती है। उल्लेखनीय तथ्य यह भी उभरकर सामने आता है कि आदिवासी जन गाँव में रहते थे तो सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु शहर में बसने के उपरान्त वह सामूहिकता नष्ट हुई है। समूह में रहने से व्यक्ति अपनी संस्कृति, अपनी पहचान से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है, किन्तु जैसे ही व्यक्तिगत जीवन को अपनाता है, उसकी पहचान पर सर्वप्रथम प्रहार होता है तथा स्वयं को कमतर समझने की प्रवृत्ति विकसित होती है।

भारत एक बहुजातीय देश है जहाँ कई जाति और कई धर्मों के लोग निवास करते हैं। आदिवासी एकमात्र ऐसा समुदाय है जो किसी धर्म में बंधकर नहीं रहता। यही कारण है कि सभ्य समाज ने उन्हें अपने-अपने धर्मों के अन्तर्गत सम्मिलित करने की कुचेष्टा की जिसका प्रभाव यह पड़ा कि एक बड़े पैमाने पर धर्मांतरण की प्रक्रिया शुरू हुई। स्वतंत्रता के पूर्व ईसाई मिशनरियों ने एक बड़े पैमाने पर धर्मांतरण किया। उनका उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था ताकि उनकी जड़े और मजबूत हो सकें। उनकी दृष्टि में आदिवासी समाज एक असभ्य समाज था। अतः एक असभ्य समुदाय को सभ्य बनाने का एक षडयंत्र मात्र था। इसके लिए उन्होंने आदिवासियों से नम्र व्यवहार किया, उन पर दयादृष्टि बनाई रखी ताकि उनकी सहानुभूति

देखकर आदिवासी पिघल जाए और उनके अनुसार आचरण करें। अतः धर्मांतरण एक मुख्य औजार सिद्ध हुआ। यह वास्तव में जातिभेद को बढ़ावा देने का एक सशक्त माध्यम था। 1947 में अंग्रेजों से आजादी तो मिली, किन्तु धर्म परिवर्तन की यह प्रक्रिया जारी रही और यह राजनीति का हिस्सा बनता चला गया। धर्म में बंधकर एक तरह से उनकी स्वतंत्रता उनकी वास्तविक पहचान को उनसे विलग करने का षडयंत्र मात्र है। सुचिंतक वंदना टेटे का कथन इस संदर्भ में द्रष्टव्य है - “हम अच्छी तरह से यह जानते हैं कि प्राथमिक स्तर से उच्च स्तर तक के पठन-पाठन सामग्रियाँ तथा भारत की समूची अध्ययन प्रणाली और परंपरा शास्त्रों पर आधारित है। दरअसल, शास्त्र रचे ही जाते हैं व्यवस्था की राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। विचारधाराओं के सुनियोजित व व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के लिए।”<sup>35</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार के शास्त्र इसलिए रचे जाते हैं ताकि व्यवस्था के प्रति सभी का दृष्टिकोण उसी (शास्त्रानुसार) अनुसार विकसित हो जैसा शास्त्रों में लिखित है।

आदिवासी संस्कृति अपने आप में अनोखी संस्कृति है। एक प्राचीन संस्कृति होने के कारण आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को बहुत यत्न से सहेज कर रखा और संस्कृति विकसित होती रही तथा आगे की पीढ़ी ने उसका संरक्षण किया, किन्तु बाहरी संस्कृति के हस्तक्षेप के कारण उनकी संस्कृति प्रभावित हुई और एक पारंपरिक संस्कृति के स्थान पर नई संस्कृति का प्रवेश हुआ जो उन पर थोपी गई। श्रेष्ठ-अश्रेष्ठता का भाव विकसित हुआ। इस संदर्भ में प्रसिद्ध लेखक हेरॉल्ड एस. तोपनो का कथन द्रष्टव्य है - “उच्च जातियाँ अपनी जातीय श्रेष्ठता के अहं से मुक्त नहीं हैं। इसी तरह से आदिवासियों की प्रथाओं और संस्कृति को तुच्छ कहकर उनकी आलोचना करते रहे हैं। वे आदिवासियों पर अपनी संस्कृति को थोपते हैं। उनकी जीवन पद्धति और संस्कृति में हस्तक्षेप करते हैं, जिससे आदिवासियों की अपनी संस्कृति बुरी तरह विकृत हो रही है। नतीजतन आदिवासी उन जातियों की एक भौंडी नकल बनकर रह जाते हैं, जो न उच्च जातियों के बीच फिट बैठ पाते हैं और न ही अपने समाज में वे अपना सामंजस्य बना पाते हैं।”<sup>36</sup> संरक्षित करने की यह भावना केवल आदिवासी संस्कृति में ही प्राप्त होती है। जीवों



से लेकर विपुल वन संसाधन का संरक्षण करते आए हैं और आगे भी करना अपना कर्तव्य मानते हैं। वे विरल जीवों को खाद्य या आहार का माध्यम नहीं बनाते, बल्कि उनका संरक्षण करते हैं। हरिराम मीणा की उक्ति इस संदर्भ में सार्थक प्रतीत होता है - “देखने वाली बात यह है कि जो कुछ कमतर है, उसे संरक्षित किया जाना चाहिए, यह बोध उन आदिम समूहों को है। शायद उनके दिलों-दिमाग में यह समझ हो कि प्राणियों की विविधता की उपस्थिति सृष्टि को सुन्दर बनाती है। अगर किसी इकाई के अस्तित्व को नष्ट करने से कुछ कम हुआ तो प्राकृतिक सौन्दर्य प्रभावित होगा। ‘जीवम् जीवस्य भोजनम्’ के यथार्थ को स्वीकार करते हुए भी विरल जीवों के अस्तित्व के संरक्षण की ऐसी भावना अद्भुत है, जिसके लिए यदि वे आदिवासी लोग किन्हीं भी मिथकों, धार्मिक आस्थाओं, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, मान्यताओं अथवा परम्पराओं का सहारा लें, उनका हमें सम्मान करना चाहिए।”<sup>37</sup>

अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक संक्रमण ने आदिवासी समुदाय को अत्यधिक प्रभावित किया है। आदिवासी संस्कृति में स्त्री-पुरुष दोनों को समान दर्जा प्राप्त है। इस समाज में लैंगिक असमानता देखने को कहीं नहीं मिलती, पुरुष वर्चस्व तो दूर की बात है। किन्तु गैर आदिवासी के संपर्क में आने के पश्चात् यह लैंगिक असमानता की पूरी प्रक्रिया ही बदल गई जिसे भ्रूण हत्या, चाइल्ड ट्रेफिकिंग, घरेलू हिंसा, बलात्कार आदि के रूप में देखते हैं। प्रत्येक संस्कृति अपने आप में सुन्दर है और इसकी सुन्दरता के पीछे समाज का श्रम बहुत बड़ी भूमिका निभाता है जो सामूहिकता का रास्ता तय करते हुए आगे बढ़ती जाती है। अर्थात् जो अपने कर्म से संस्कृति को सुन्दर बनाने में, व्यष्टि के स्थान पर समष्टि को प्रधानता देने में योगदान दे, ऐसी महानतम संस्कृति की नैसर्गिक छटा पर भौतिक संस्कृति हावी हो रही है जो आज के युग में खतरे का सांकेतिक रूप है।

#### iv) सामाजिक मूल्य

मूल्य समाज का एक अंग है। समाज को महत्वपूर्ण बनाने में मूल्य का योगदान प्रमुख है। बिना मूल्यों के समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए मूल्य को समाज के साथ जोड़कर देखा जाता है तभी सामाजिक मूल्य का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। मूल्य समाज को एक आधार प्रदान करता है। सामाजिक मूल्य समाज के सभी पक्षों का मूल्यांकन करता है - सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, भाषा एवं शैली इत्यादि। अर्थात् घटना विशेष परिस्थिति, वातावरण बदले हुए देश-काल का परिलक्ष्य माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे युग बदलता है वैसे-वैसे समाज भी बदलता है। उस समय का समाज, युग की परिस्थितियां, वातावरण एक समान नहीं होता है। वे भी समयानुसार बदलते रहते हैं और पृथक भी होते हैं। उस आधार पर दृष्टिकोण भी बनते हैं। सभी के अपने-अपने विचार और दृष्टिकोण होते हैं जो उनकी संस्कृतियों को विशिष्ट बनाती हैं। मूल्यांकन के द्वारा ही अच्छे-बुरे की पहचान होती है। वस्तुतः सामाजिक मूल्य वह है जो समाज में, समाज में रहने वाले लोगों में, उन लोगों के आचरण, व्यवहार में अभिव्यक्त होता है। समाज में एकता, दृढ़ विश्वास, संगठन, संकल्प, सामाजिक भावनाओं को स्थापित रखता है। आदिवासी समाज के कई ऐसे महानतम जीवन मूल्य हैं जो अन्य समाज की ही भांति एक विकसित समाज के समकक्ष ठहरता है। इसने सभ्यता के विकास में अमूल्य योगदान दिया है जिसके पास इस दुनिया को देने के लिए बहुत कुछ है। समानता, स्वतन्त्रता, सामूहिकता, पारंपरिक न्याय व्यवस्था आदिवासी समाज को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ एवं सुंदर बनाता है।

#### समानता

समानता आदिवासियों के सामाजिक जीवन मूल्यों में से एक श्रेष्ठतम मूल्य है। आदिवासी के जितने भी समुदाय हैं, चाहे अपने देश की अथवा विश्व पटल की बात करें तो उन सभी समुदायों का मुख्य अंग समानता है। जहाँ समानता नहीं वहाँ चाहे जितने भी मानवीय मूल्य विद्यमान क्यों न हो, वे सारे महत्वहीन हो जाते हैं क्योंकि समानता के बिना हम मानवीय

मूल्यों की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। समानता के विद्यमान रहने से ही हम वास्तव में मनुष्य को मनुष्य कह सकते हैं। आदिवासी समाज में समानता एक जीवन मूल्य है जहाँ सभी मनुष्य को एक समान दृष्टि से देखा जाता है, जहाँ भेदभाव के लिए कोई स्थान ही नहीं है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आदिवासी समाज में निहित समानता गैर आदिवासी समाज से किस प्रकार भिन्न है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसे इस रूप में देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप कृषि कार्य को लें तो किसान और मजदूर बराबरी से श्रम करता है, हल जोतना, धान रोपना, धान काटना इत्यादि कार्य समानता पूर्वक करते हैं। जबकि गैर आदिवासी समाज में किसान केवल द्रष्टा मात्र होता है। वह केवल देख-रेख करता है और मजदूर पर अपना नियंत्रण तथा सत्ता स्थापित करना ही उसका उद्देश्य होता है। वह स्वामी होता है, मालिक होता है। मालिक और मजदूर के बीच दूरी होती है। आदिवासी समाज में सत्ता और नियंत्रण का कोई स्थान नहीं है; वे साथ मिलकर कार्य करते हैं। साथ मिलकर भोजन भी ग्रहण करते हैं, चाहे कोई समृद्ध आदिवासी परिवार ही क्यों न हो। गैर आदिवासी समाज में जो सम्पन्न किसान होता है वह स्वयं को मजदूरों से सर्वश्रेष्ठ समझता है। इसलिए वह मात्र दर्शक की ही भूमिका निर्वाह करता है जबकि आदिवासी समाज में सम्पन्न अथवा समृद्ध किसान भी खेतिहर मजदूर के साथ मिलकर कृषि कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वहाँ न कोई भेदभाव होता है, न कोई ऊँच-नीच, न मालिक और न मजदूर होता है। वहाँ केवल मनुष्य होता है जो एक दूसरे की सहायता करना अपना कर्तव्य समझता है। अक्सर देखा जाता है कि उच्च स्तर का व्यक्ति अपने से निम्न स्तर के व्यक्ति को देखना, उनके साथ मिलना-जुलना अपने झूठे मान-सम्मान अथवा मर्यादा से जोड़कर देखते हैं। इस तथ्य का सदैव वे ध्यान रखते हैं कि उनके मान-सम्मान पर किसी प्रकार की आँच नहीं आनी चाहिए। यही भावना भेदभाव को जन्म देती है जिसकी जड़ें गैर आदिवासी समाज में पहले से व्याप्त हैं और वही जड़ें आदिवासी समुदाय में फैल रही हैं तथा इससे गहरे रूप से प्रभावित भी हो रही हैं।

इसी प्रकार आदिवासियों का सबसे महानतम मूल्य समानता का दूसरा बड़ा उदाहरण विवाह-संस्कार और पर्व-त्योहारों में द्रष्टव्य है। सहभागिता की भावना हमें आदिवासी समुदाय में ही देखने को मिलती है। जब किसी गाँव-घर में विवाह-संस्कार कराया जाता है तो गाँव के सभी लोग सहभागी बनकर मदद करने के लिए आगे आते हैं। विवाह-संस्कार में अनेक कार्य होते हैं जिसमें कई लोगों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। आदिवासी समाज की यह विशेषता है कि सहायता के लिए किसी के सामने हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि लोग स्वतः अपना कर्तव्य समझकर सहयोग करते हैं। विवाह के आरंभ से लेकर विवाह सम्पन्न होने तक सभी रुकते हैं। एक कुटुंब के रूप में इकट्ठे होते हैं और परिवार समझकर अपने दायित्व का निर्वाहन करते हैं। इसी प्रकार पर्व-त्योहार को लें तो पर्वों में भी समानता का लक्षण पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। छोटे बच्चों से लेकर बुजुर्ग तक, अमीर से लेकर गरीब तक के व्यक्ति पर्वों में भाग लेते हैं। किसी प्रकार का कोई भेदभाव देखने को नहीं मिलता है। सभी खुशी-खुशी और आनंदपूर्वक पर्वों को मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वत्र सकारात्मक सोच ही व्याप्त रहा है क्योंकि आदिवासी दर्शन में नकारात्मक विचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। आज बाहरी संस्कृति के प्रभाव से आदिवासी समाज में नकारात्मक विचारों ने अपनी गहरी पैठ बना ली है। शिक्षित आदिवासी शहरों में बसकर अपने ही गाँव के आदिवासी भाई-बंधु, रिश्तेदारों से कटते चले जा रहे हैं। न ही उन्हें (आदिवासी) अपने रिश्तेदारों का आना पसंद है और न ही गाँव जाकर अपने भाई-बंधु से भेंट करना ही उचित समझते हैं। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है -“जो पढे-लिखे और पैसेवाले आदिवासी राजधानी में रह गये हैं, उनकी जीवन-शैली आदिवासियत से कटी हुई है। सखुआ के जंगल की जगह अपार्टमेंटों के जंगल में रहनेवाले आदिवासियों को ग्रामीण आदिवासी जीवन-परंपरा और संघर्ष की कोई चिंता या जुड़ाव नहीं रह गया है। गैर-आदिवासी विचार और जीवन-शैली ने उन्हें पूरी तरह से बदल डाला है। वे कहीं से भी आदिवासी नहीं हैं, पर आदिवासी होने का दावा करते हैं।”<sup>38</sup> यह सब उस प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का परिणाम है जहाँ से भेदभाव का उत्स माना गया है। शहर में रहने

वाले आदिवासी सम्पन्न तो हो रहे हैं, किन्तु कहीं न कहीं अपने आदिवासियत से दूर होते जा रहे हैं। जब समानता की बात होती है तो स्त्री-पुरुष के समानता की भी चर्चा होती है। स्त्री चाहे पुत्री हो अथवा वधू, वह दोनों दृष्टिकोण से क्रमशः अपने पिता और पति के लिए समान है। उसी प्रकार पुरुष चाहे पुत्र हो अथवा दामाद, दोनों ही दृष्टिकोण से वह समान स्थान अर्जित करता है। मुख्यधारा समाज की भांति दामाद के रूप में वह आवभगत नहीं करवाता, बल्कि परिवार के सदस्य की भांति समस्त कार्यों में हाथ बँटाता है। लेखक हरिराम मीणा का कहना है - “आदिवासी समाज में जब स्त्री के दर्जा की चर्चा चलती है तो स्वाभाविक है कि स्त्री के पति की बात की जाये। आदिम समुदायों में दामाद लड़की के पक्ष का एक सामान्य सदस्य के तौर पर माना जाता है न कि जवाईं जी अथवा कोई राजकुमार। इसे सिद्ध करने के लिए एक किस्सा यहाँ दे रहा हूँ। एक आदिवासी के चार दामाद थे। एक दामाद से वह आदिवासी किसी बात को लेकर नाराज़ हो गया। उसकी पाँचवीं बेटी की शादी में वे सब दामाद आये हुए थे। ससुर ने नाराजगी के चलते उस दामाद को कोई काम नहीं दिया। वह दामाद रूआँसा होकर घर के आँगन में गुमसुम बैठा था। किसी ने पूछ लिया कि ‘भई, क्या बात है जो यहाँ मौजूद सब लोग उल्लास के साथ विवाह के अवसर पर काम में जुटे हुए हैं और आप हो कि चुपचाप बैठे हो?’ दामाद ने दुखी होकर उत्तर दिया कि ‘ससुर जी मुझसे नाराज हैं। मुझे कोई काम नहीं करने दे रहे हैं।’ उधर गैर-आदिवासी समाज में दामाद काम करने की बजाय सजधजकर सोफे-कुर्सियां तोड़ता दिखाई देगा। उधर देखियेगा किसी भी परिवार में होने वाले खुशी के अवसर पर वहाँ आने वाली कोई भी औरत ऐसी नहीं होती जो काम में हाथ नहीं बँटाती हो।”<sup>39</sup> इस तथ्य से स्पष्ट है कि समानता आदिवासी समाज के जीवन-दर्शन का प्रमुख अंग है। आदिवासी समाज में वर-पक्ष वधू-पक्ष से दहेज नहीं लेता था, बल्कि वधू-मूल्य के रूप में कुछ रुपये देता था। यानी कि दहेज लेने का कोई रिवाज समुदाय में नहीं था। आदिवासी समाज की नींव है समानता जिस पर आदिवासी जीवन-मूल्य टिका हुआ है। जिस प्रकार के लोकतान्त्रिक समाज की कल्पना की जाती है उस प्रकार का समाज आदिवासी समुदाय में पहले से मौजूद रहा है। भ्रूण हत्या के

मामले आदिवासी समाज में देखने को नहीं मिलता है, ये सारे मामले गैर आदिवासी समाज में देखने को प्राप्त होते हैं। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “गैर आदिवासी समाज में स्त्रियों का अवमूल्यन और लिंगगत भेदभाव इस हद तक बढ़ा कि आगे चलकर विवाह हेतु लड़कियों का मिलना मुश्किल हो गया। हम जानते हैं कि बेटे और बेटी के बीच का भेदभाव बाहरी समाज में बहुत भयावह है। वे अपनी बेटियों को जनमते ही मार देते हैं। जब टेक्नोलॉजी का विकास हुआ तो अब लोग बेटियों को भ्रूण में ही मारने लगे हैं। कन्या-भ्रूण की हत्या करने वाले समाज में औरतों का अनुपात घटना स्वाभाविक ही है।”<sup>40</sup> नींव के बिना स्तम्भ मजबूती से टिका नहीं रह सकता है, ठीक उसी प्रकार आदिवासी जीवन-मूल्य समानता के बिना टिक नहीं सकता है। सभ्यता के विकास के लिए समानता की आवश्यकता है। मनुष्य को मनुष्य समझना ही जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है।

### सामुदायिकता

किसी एक व्यक्ति से समाज नहीं बनता है, बल्कि लोगों के समूह से समाज बनता है। जब समाज निर्मित हुआ तो सामाजिक मूल्यों की स्थापना हुई जिसने समुदाय में रहने को प्रोत्साहित किया। आदिवासी समाज में सामुदायिकता जीवन मूल्यों में से एक महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में माना जाता है। इनके जीवन में सामुदायिकता उस सेतु की तरह है जो एक दूसरे को आपस में जोड़े रखती है। आदिवासी एक परिवार की तरह मिलकर किसी समस्या का समाधान निकालते हैं। आदिवासी समाज की पहचान उनके जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य और अस्मिता से जुड़ी हुई है। आदिवासी जीवन-दर्शन की नींव है सामूहिकता। गैर आदिवासी समाज में किसी एक विशिष्ट व्यक्ति की प्रधानता होती है। यहाँ प्रतिस्पर्धा इतनी अधिक है कि लोग एक-दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं। आदिवासी समाज में व्यक्ति की प्रधानता नहीं होती है, वह समष्टि में विश्वास रखता है और पूरे समुदाय को आगे ले जाने में यकीन रखता है। दुःख अथवा सुख, किसी भी परिस्थिति में एक-दूसरे का साथ छोड़ना नहीं सीखा है, सहभागी बनकर आगे बढ़ना ही मुख्य ध्येय है। लेखक हरिराम मीणा के शब्दों में - “आदिवासियों के भिन्न-

भिन्न नाम या संज्ञाएँ उनके अंचल, गणचिह्न, गोत्र, वंश, प्रजाति आदि पर आधारित रहे हैं। यह एक मात्र समाज है जो वर्ग व जाति की अवधारणा को अपने यहाँ स्थान नहीं देता। अगर वर्ग व जातिविहीन समाज के इस उपलब्ध सूत्र को पहचानकर अंगीकार कर लिया जाता है तो राष्ट्रीय एकीकरण और तनावविहीन समाज के लिए इससे बढ़िया कोई विकल्प आज हमारे सामने नहीं है। इसलिए सामूहिकता और सह-अस्तित्व आदिवासी संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है।<sup>41</sup> बचपन से हम एक कहानी सुनते आए हैं जिसमें पिता अपने पाँच पुत्रों को लकड़ियों का बंडल देकर उसे तोड़ने के लिए कहता है, किन्तु लड़के उन लकड़ियों के बंडल को तोड़ने में असमर्थ रहे। तब पिता ने सबको एक-एक लकड़ियाँ दी जिसे सबने बड़ी आसानी से तोड़ दिया। इस कहानी से यह शिक्षा मिलती है कि हमें आपस में मिलजुल कर रहना चाहिए ताकि कोई भी मुसीबत आए, उसका सामना एक होकर करें और जब तक सामूहिकता अन्तर्मन में व्याप्त है, कोई भी ताकत हरा नहीं सकती है। यह कहानी आदिवासी जीवन मूल्य सामूहिकता से साम्य रखती है। समाज में जो भी कार्य होते हैं आदिवासी समूह में रहकर करते हैं। मिलजुल कर कार्य करने के दो विशेष प्रावधान हैं - एक है पंचा और दूसरा है मदइत। मदइत का अर्थ है मदद करना। किसी भी प्रकार की आवश्यकता पड़े, चाहे बीमारी हुई या घर बनाना हो, शादी-विवाह हो, खेती का समय हो, वे उधार के रूप में मदद ले सकते हैं। इसके बाद उसकी जब क्षमता होगी वह वापस कर देगा। पंचा ऋण लेना होता है। आदिवासी समाज में ऋण के बदले सूद नहीं लिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि बीज बोना है और बीज नहीं है तो उधार के रूप में बीज ले लिया जाता है। फिर जब धान या फसल काट लेगा तो वह अपनी क्षमता के अनुरूप ऋण चुका देगा। इसी प्रकार बीमारी के समय मदद मांग लिया और वापस करने की क्षमता नहीं है तो परिवार का एक व्यक्ति काम कर देता है। इसके बदले खाना-पीना भी दिया जाता है, लेकिन वेतन नहीं दिया जाता है।

दूसरा उदाहरण हम आदिवासी समाज के निर्णय लेने की प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। आदिवासी समाज किसी भी समस्या, वाद-विवाद, झगड़े-फसाद आदि का समाधान किसी

एक व्यक्ति के निर्णय के आधार पर नहीं लेते हैं। यहाँ अखड़ा में सभी लोगों की सहमति महत्वपूर्ण मानी जाती है जो सर्वहित में होता है। इसी प्रकार वनोपज एकत्रित करना जैसे लकड़ियाँ लाना, फूल लाना, महुए एकत्रित करना इत्यादि सामूहिक रूप से करते हैं। किसी व्यक्ति के मन में एक दूसरे के प्रति कोई ईर्ष्या की भावना नहीं होती है। सभी आपसी समझ बनाए रखते हुए मिलजुलकर वनोपज एकत्रित कर समान रूप से बांटते हैं और समान भागीदारी की भूमिका निभाते हैं। इस बात को हम एक छोटी कहानी के माध्यम से पुष्ट कर सकते हैं -

“एक आदिवासी बच्चा पहली-पहली बार स्कूल गया था। गैर-आदिवासी मास्टर गणित पढ़ा रहा था। ‘अच्छा बच्चों, एक बार राम और हनुमान जंगल में घूम रहे थे। जंगल में स्वादिष्ट आम का एक बहुत ही बड़ा पेड़ था जिस पर कुल दस आम फले हुए थे। पके हुए आमों को देख कर राम के मुँह में पानी आ गया। उसने आम तोड़ने की कोशिश की। आम पेड़ पर बहुत ऊंचे लगे थे। तब हनुमान ने मदद की। फटाफट पेड़ पर चढ़ कर सारे आम तोड़ डाले और राम को दे दिया। घर पहुंचने पर राम ने उस दस आम में से तीन आम सीता को दिए। दो-दो आम लक्ष्मण और भरत को दे दिया। एक आम हनुमान को मिला। बताओ तो राम के पास कितने आम बचे?’

मास्टर जी के इस सवाल के जवाब में गैर-आदिवासी बच्चों ने अपनी-अपनी समझ से जवाब दिए। आदिवासी बच्चा चुपचाप रहा। मास्टर ने उसे खड़ा करते हुए पूछा, ‘बुधुआ, तुम बोलो तो राम के पास कितने आम बचे?’

‘पांच’ आदिवासी बच्चे ने बिना देर किए जवाब दिया।

मास्टरजी ने आदिवासी बच्चे की गलत जवाब पर मुस्कराते हुए फिर पूछा, ‘पांच! कैसे बचे पांच?’

आदिवासी बच्चे ने जवाब दिया, ‘मास्टरजी, पेड़ के सारे आम तोड़कर राम ने बहुत गलती की। उस आम पेड़ और उसके फल पर सबका बराबर का सामुदायिक हक था। राम को नहीं तोड़ने



चाहिए थे। लेकिन इससे भी और बड़ी गलती राम ने की। उसने आम का बराबर-बराबर बंटवारा नहीं किया। सीता जो उसकी औरत है, उसे सबसे ज्यादा दिया - तीन। लक्ष्मण और भरत, अपने भाइयों को भी उसने दो-दो यानी ज्यादा दिया। परंतु हनुमान जिसने मेहनत से आम तोड़ी थी उसे सिर्फ एक, सबसे कम दिया और दो आम खुद भी रख लिया। इस तरह खुद के दो और अपनी औरत सीता के तीन मिलाकर राम ने कुल पांच आम स्वयं हथिया लिया। हुए कि नहीं पांच?’ मास्टरजी निरुत्तर हो गए।<sup>42</sup> इसी प्रकार ये शिकार सामुदायिक रूप से करते हैं जिसे सेन्द्रा कहा जाता है। सभी लोगों को सूचना दी जाती है और तयशुदा स्थान पर जाकर शिकार किया जाता है। कोई भी गतिविधियाँ एकल नहीं होती हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह कि इनमें प्रतिस्पर्धा नहीं होती है, बल्कि सामुदायिक रूप से एक दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता की भावना से आदिवासी कोसों दूर हैं। शादी-विवाह ऐसे मामले हैं जहाँ एक परिवार की सहायता भी न्यूनतम पड़ जाती है। इस बात को सभी जानते हैं। विवाह के जितने भी संस्कार हैं, जितने भी रीति-रिवाज हैं, सब बिना किसी बाधा के सम्पन्न हो जाते हैं, कारण है आदिवासियों की सामूहिक भागीदारी। लड़का अथवा लड़की ढूँढने से लेकर विवाह संबंधित समस्त कार्य गांव के लोग एक परिवार की तरह मिलकर करते हैं। यह जो सामुदायिकता है यह गैर आदिवासी समाज में दुर्लभ है। सामुदायिकता की अद्भुत झलक नृत्य-गीत में देखने को मिलता है। यह सामुदायिकता का ज्वलंत उदाहरण है। अखड़ा में सभी लोग एकत्रित होते हैं और नाच-गान करते हैं। “अखड़ा, यानी प्रत्येक गाँव का वह स्थल जहाँ सभी तरह के सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन होता है। अखड़ा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कोई दर्शक नहीं होता। हर दर्शक परफॉरमर होता है और हर परफॉरमर दर्शक। मतलब, अखड़ा में हर कोई नाचता ही नाचता है। गाता ही गाता है।”<sup>43</sup> प्रकृति भी उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से साथ देती है। यह जरूरी नहीं कि केवल पर्व-त्योहार में ही नाच-गान होता है, कभी-कभी प्रत्येक सप्ताह के किसी न किसी दिन में नृत्य का आयोजन होता था। अपनी समस्त थकान, परिश्रम, दुःख, तकलीफों को भूलकर अदम्य जिजीविषा बनाए रखते हुए नृत्य-

गीत का आनंद लेते हैं। सभी कोई इस आनन्द का भागीदार होता है, अर्थात् इस नृत्य गीत में सभी कोई भाग लेते हैं और कोई द्रष्टा नहीं होता है। “आदिवासी जीवन अपने-आपमें अनेक परफॉर्मेंसों का एक इंद्रधनुषी सम्मुचय है, जिसमें नृत्य है, गीत है, संगीत है, आखेट है और अनुष्ठान है। इन्हें जिए बिना आदिवासी नहीं हुआ जा सकता। यहाँ तक कि जिन आदिवासियों ने ईसाई या हिन्दू धार्मिक विश्वासों को अपना लिया है, वे भी परफॉर्मेंस के इन रूपों को नहीं छोड़ सके हैं। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि कोई भी परफॉर्मेंस एकल नहीं होता। गीत गाने के लिए नाचना जरूरी है, नाचने के लिए बजाना जरूरी है और इन सबके लिए प्रकृति का साहचर्य होना जरूरी है, सामूहिक होना जरूरी है। बाहरी समाजों की तरह यहाँ कोई अकेला गीतकार, गायक, वादक या नर्तक नहीं होता।”<sup>44</sup> यह सामुदायिकता का सबसे सुंदर पहलू है जो आदिवासी जीवन मूल्य को सर्वश्रेष्ठ बनाती है।

इतिहास गवाह है कि जब-जब आदिवासियों ने एक होकर अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए आंदोलन किया है, उन्हें पराजय का सामना कभी नहीं करना पड़ा। सभी एक-दूसरे की शक्ति हैं। आदिवासियों की सामुदायिक शक्ति उन पाँच उँगलियों से मिलकर बनी मुट्ठी से कमतर नहीं है। जिस प्रकार समानता उनकी प्रेरणा है उसी प्रकार सामुदायिकता उनकी शक्ति है, उनका जीवन दर्शन है। आदिवासी समाज में ‘हम’ और ‘में’ का कोई विभाजन नहीं है, यहाँ सभी ‘हम’ हैं। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “आदिवासी लेखन मुख्यधारा के रंगभेद एवं नस्लीय साहित्य के मानदंडों को नकारते हुए अपने प्रतिमान गढ़ रहा है। आदिवासी साहित्य की अपनी भावभूमि, सौन्दर्यबोध और विश्वदृष्टि है। वह सामूहिक मूल्यों और सहअस्तित्व में यकीन करता है और इसलिए वहाँ व्यक्तिवादी नायक नहीं हैं।”<sup>45</sup>

### **न्याय व्यवस्था**

एक स्वस्थ प्रजातांत्रिक अथवा लोकतांत्रिक राज्य के लिए चार प्रमुख स्तम्भ माने गये हैं- विधायिका, कार्यपालिका, मीडिया और न्यायपालिका। न्यायपालिका का कार्य है नियम-कानून

को बनाए रखना ताकि प्रजा उसका पालन करे, नियमों का उल्लंघन करने वाले को दंडित करना, विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान करना तथा अन्याय के विपक्ष में लोगों को न्याय दिलाना आदि। यह एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ सभी को समान रूप से न्याय मिलता है, चाहे स्त्री हो या पुरुष, बिना किसी भेदभाव के सत्य का पक्ष लेते हुए न्याय करना ही न्याय व्यवस्था है। आदिवासियों की न्याय व्यवस्था अत्यंत सुदृढ़ और लोकतांत्रिक न्याय व्यवस्था आदिकाल से रही है। उदाहरण के तौर पर संतालों की न्याय व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि संतालों का अपना शासन रहा है, उस शासन की नीति रही है। संताल के प्रधान को 'मांझी' कहते हैं। प्रत्येक गाँव (संतालों का) का प्रधान मांझी माना जाता था। इसके पश्चात् 'पारानिक' आता है जो प्रधान अथवा मांझी के सहायक के रूप में कार्य करता है। तत्पश्चात् 'गोड़ेत' पद आता है जो उपरोक्त पद पर आसीन (मांझी और पारानिक) व्यक्ति के आदेशों को जनता तक पहुंचाने का महती कार्य करता है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि 'गोड़ेत', मांझी और पारानिक का सहायक के रूप में अपने कर्तव्य का निर्वाहन करता है। 'पारानिक' का स्थान सर्वप्रमुख होता है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध कवयित्री निर्मला पुतुल का कथन द्रष्टव्य है -"संताल परगना के संताल आदिवासी समाज की परंपरागत प्रधानी पंचायत व्यवस्था में आदमी जानवर से लेकर पेड़-पौधे तक से संबंधित झगड़े-विवादों का निर्णय एक ही पंचायत व्यवस्था के अंतर्गत होता है। यह समुदाय अपनी सामुदायिक न्याय व्यवस्था को व्यक्ति से अधिक महत्व देता है। व्यक्ति की सामाजिक बदनामी एवं आर्थिक परेशानी से इस न्याय व्यवस्था को कुछ भी लेना-देना नहीं है।"<sup>46</sup> गाँव का प्रधान 'मांझी हाड़ाम' भी कहलाता है। 'नायके' का प्रमुख कार्य होता है पूजा-पाठ सम्पन्न करना। 'गोड़ेत' को मारंग भी कहते हैं। इस प्रकार आदिवासी न्याय व्यवस्था इन पाँच प्रमुख व्यक्तियों से मिलकर बना है जो न्याय व्यवस्था को संगठित कर शक्तिशाली रूप प्रदान करता है। समाज में जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उस समस्या के समाधान के लिए 'परगनैत' की व्यवस्था है। 'परगनैत' के सहायक के रूप में 'देश मांझी' होता है। अंग्रेजी काल में मांझियों का मुख्य कार्य था भूमि कर वसूलना अर्थात् वे अंग्रेजी

के हितैषी बन गए थे। इसके अलावा उन्हें अंग्रेजों द्वारा 'प्रधानी जोत' नामक भूमि दी गई जिससे प्रधान असामान्य एवं लोगों की दृष्टि में विशिष्ट बना दिया जहाँ वैयक्तिकता हावी हो जाती है और सामूहिकता नष्ट हो जाती है। निर्मला पुतुल के कथनानुसार, "यहीं से संताल समाज में गिरावट आने लगी। प्रत्येक ग्राम प्रधान चाहने लगा कि वह या उसके वंशज ही प्रधान रहें, जिससे प्रधानी जोत वाली जमीन उसके परिवार के कब्जे में रहे। आज दिनों दिन ग्राम प्रधान संबंधी विवादों की संख्या अंचल-अनुमंडल तथा उपायुक्त कार्यालय में बढ़ते जा रहे हैं। आज स्थिति ऐसी बन गयी है कि बहुत उपयोगी एवं बहुप्रतीक्षित आदिवासी स्वशासन व्यवस्था लागू होने के समय भी अधिकतर गाँवों में ग्राम प्रधान पद के लिए विवाद बढ़ने की संभावना है।"<sup>47</sup> वर्तमान संदर्भ में किसी को सटीक न्याय दिलाना अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ आदिवासियों ने अपनी एक सुदृढ़ स्वशासन एवं न्याय व्यवस्था को मजबूत बनाया वहीं बाहरी समाज के सम्पर्क ने इनकी न्याय व्यवस्था को भी विकृत कर दिया है।

### स्वतंत्रता

स्वतंत्रता एक भावात्मक रूप है जो हर व्यक्ति का मौलिक एवं मानवीय अधिकार है। स्वतंत्रता अपने आप में व्यापक किन्तु विशिष्ट अर्थ लिये हुए है। स्वतंत्रता को दो रूपों में देख सकते हैं - एक है भावात्मक रूप और दूसरा सांविधानिक रूप। भावात्मक रूप में कोई भी जीवित प्राणी स्वतंत्रता का अनुभव कर सकता है। सांविधानिक रूप से संविधान में लोगों को कुछ मौलिक अधिकार दिये गए हैं जिसमें उन्हें कुछ विशिष्ट मानवीय अधिकार दिये गए हैं। आदिवासी समुदाय इस देश के प्रथम निवासी अथवा मूल वासी माने गए हैं जिसके अंतर्गत स्वतंत्रता एक सशक्त जीवन मूल्य है जो मानवीय व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहायक होता है। वस्तुतः स्वतंत्रता केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि सामूहिक रूप से जुड़ा हुआ है। एक सुदृढ़ समाज की स्थापना के लिए स्वतंत्रता उतनी ही आवश्यक होती है जितनी कि समानता। जिस समाज में प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन नहीं कर

सकता है वह समाज गणतांत्रिक समाज नहीं कहलाता है। आदिवासी समाज स्वतंत्रता का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें समस्त मनुष्य जगत तथा अन्य प्राणी स्वतंत्र रूप से स्वेच्छानुसार जीवन व्यतीत करते आए हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं है। स्त्री की स्वतंत्रता को लेकर अक्सर बहस होती है, किन्तु आदिवासी समाज इन बहसों को स्थान नहीं देता है। स्त्री को अपने इच्छानुसार वर का चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई है। साथ ही अपने इच्छानुसार संबंध-विच्छेद भी कर सकती है। समाज में जितना पुरुष की इच्छाओं को सम्मान दिया जाता है उतना ही एक स्त्री की इच्छा भी मायने रखती है। लेखक हरिराम मीणा मणिपुरी स्त्रियों के आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और उनकी स्वतंत्र स्थिति पर विचार करते हुए कहते हैं - "यह कहा जाता है कि मणिपुरी स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से किसी भी तरह से पुरुषों पर निर्भर नहीं रहती। यह आत्मनिर्भरता उन्हें समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाता रहा है। मणिपुर में तो स्त्रियाँ अन्यत्र की तुलना में अधिक स्वावलंबी हैं ही, भारत के अधिकांश आदिवासी समुदायों में इस तरह के अनेक उपक्रम मिलते हैं जो स्त्रियों को पुरुषों के बराबर आर्थिक स्तर पर सक्षम बनाते हैं।"<sup>48</sup> आदिवासी समाज के खुलेपन को लेकर गलत नजरिया सेट किया गया जिससे स्त्री को मनुष्य का दर्जा से हटाकर एक वस्तु के रूप में बदल दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि बाहरी संस्कृति के आने के पहले स्त्री पुरुष की जीवन साथी हुआ करती थी। जीवन के हर पड़ाव में स्त्री और पुरुष साथ मिलकर कार्य करते थे। कोई किसी पर निर्भर नहीं था। वह हर प्रकार के सामाजिक गतिविधियों में भाग लेती थी और स्त्रियों के मत को भी महत्व दिया जाता था। जिस स्त्री के विकसित स्वरूप की खोज में आज पूरी दुनिया लगी हुई है, वही स्वरूप कई वर्षों से आदिवासी समाज में विद्यमान रहा है।

उपरोक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि आदिवासी समाज समानता, सामूहिकता और स्वतन्त्रता की पैरवी करता है। ये समूह में निवास करना पसंद करते हैं और धरती के हर प्राणी को अपने समूह का हिस्सा मानते हैं। इस धरती पर सबको अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जीने का समान अधिकार है। यही कारण है कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीड़े-मकौड़े, हवा-पानी, पहाड़-पत्थर

आदि का अपना अस्तित्व है। इनकी अपनी समृद्ध न्याय व्यवस्था रही है जिसका उद्देश्य सर्वसम्मति से किसी समस्या का समाधान करना है। यहाँ श्रम का विशेष महत्व है। समुदाय का कोई भी सदस्य खाली नहीं बैठे रहता है, छोटे बच्चे से लेकर बुजुर्ग तक सभी श्रम करते हैं। श्रम का कोई पैमाना नहीं होता है, हर प्रकार का कार्य श्रम के अंतर्गत माना जाता है। विभाजन रहित समाज होने के कारण लैंगिक विभाजन आदिवासी समाज में नहीं देखा जा सकता है। वर्तमान में आज जो सामाजिक परिदृश्य परिलक्षित हो रहा है वह बाहरी समाज के संपर्क के बाद का परिदृश्य है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि आदिवासी जीवन मूल्य एक बेहतर जीवन की कला सिखाता है जिसे आदिवासियत कहते हैं। जो दूसरे को उदास देखकर खुश नहीं हो सकता है। व्यक्तिगत सुख की तुलना में सामूहिक सुख सर्वोपरि है जो मानवता को दृढ़ और मजबूत बनाता है।

## संदर्भ:

- 
- <sup>1</sup> तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एकटीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 219
- <sup>2</sup> कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुजा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 61
- <sup>3</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 52
- <sup>4</sup> सिएटिल, चीफ, प्रमुख के नाम पत्र, भारतीय ज्ञान विज्ञान समिति, नई दिल्ली, संस्करण: 2006, पृष्ठ: 25
- <sup>5</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 17
- <sup>6</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 134
- <sup>7</sup> कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुजा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 60
- <sup>8</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 26
- <sup>9</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2013, पृष्ठ: 171
- <sup>10</sup> गुप्ता, रमणिका, सीता, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1996, पृष्ठ: 64
- <sup>11</sup> पाठक, मनमोहन, गगन घटा घहरानी, कतार प्रकाशन, धनबाद, प्रथम संस्करण: 1991, पृष्ठ: 141
- <sup>12</sup> तरुण, वाल्टर भेंगरा, लौटते हुए, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2005, पृष्ठ: 191
- <sup>13</sup> वही, पृष्ठ: 221
- <sup>14</sup> गुप्ता, रमणिका, सीता, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1996, पृष्ठ: 65
- <sup>15</sup> तरुण, वाल्टर भेंगरा, लौटते हुए, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2005, पृष्ठ: 115-116
- <sup>16</sup> गुप्ता, रमणिका, सीता, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1996, पृष्ठ: 67

- 
- <sup>17</sup> कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 166
- <sup>18</sup> वही, पृष्ठ: 178
- <sup>19</sup> वही, पृष्ठ: 45
- <sup>20</sup> संजीव, धार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2011, पृष्ठ: 114
- <sup>21</sup> तरुण, वाल्टर भेंगरा, लौटते हुए, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2005, पृष्ठ: 215
- <sup>22</sup> वही, पृष्ठ: 226
- <sup>23</sup> सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2005, पृष्ठ: 38
- <sup>24</sup> वही, पृष्ठ: 259-260
- <sup>25</sup> वही, पृष्ठ: 257
- <sup>26</sup> कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 14
- <sup>27</sup> वही, पृष्ठ: 14
- <sup>28</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस., उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 62
- <sup>29</sup> <http://saathijohaar.com/2020/03/30/2.html>
- <sup>30</sup> <http://saathijohaar.com/2020/04/05/1.html>
- <sup>31</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दर्शन और समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2020, पृष्ठ: 171
- <sup>32</sup> वही, पृष्ठ: 171
- <sup>33</sup> कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 88
- <sup>34</sup> सागर, शैलेन्द्र (संपा.), कथा क्रम, अक्टूबर-दिसम्बर 2011, वर्ष: 14, अंक: 50, पृष्ठ: 07
- <sup>35</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 10-11
- <sup>36</sup> तोपनो, हेरॉल्ड एस., उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 30-31



- 
- <sup>37</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दर्शन और समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2020, पृष्ठ: 175
- <sup>38</sup> टेटे, वंदना, वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण: 2020, पृष्ठ: 135
- <sup>39</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दर्शन और समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2020, पृष्ठ: 183
- <sup>40</sup> टेटे, वंदना, वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण: 2020, पृष्ठ: 143
- <sup>41</sup> लुगुन, अनुज (संपा.), आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2018, पृष्ठ: 25-26
- <sup>42</sup><https://www.facebook.com/AdivasiLiterature/photos/a.159734160887444.1073741828.159723914221802/207916929402500/?l=9e1923f0cc>
- <sup>43</sup> टेटे, वंदना, वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण: 2020, पृष्ठ: 43
- <sup>44</sup> वही, पृष्ठ: 43
- <sup>45</sup> टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फ़ाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: अप्रैल 2013, पृष्ठ: 57
- <sup>46</sup> गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी लोक लोक अस्मिता-1, शिल्पायन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2012, पृष्ठ: 228
- <sup>47</sup> वही, पृष्ठ: 230
- <sup>48</sup> मीणा, हरिराम, आदिवासी दर्शन और समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2020, पृष्ठ: 184